कवितान्तर— कविता खंड

स.ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय'

जन्म 7 मार्च 1911 ई. में देवरिया जिले के कसिया नामक स्थान में हुआ था | पिता पं. हीराचन्द शास्त्री प्रसिद्ध पुरातत्वविद् थे | बचपन का अधिकांश भाग लखनऊ, कश्मीर, बिहार और मद्रास में बीता | शिक्षा मद्रास मद्रासौर लाहौर में हुई | बी. एस. सी. करने के उपरान्त अंग्रेजी साहित्य से एम.ए. करने के दिनों में ही क्रान्तिकारी आन्दोलनों में भाग लेने के सिलसिले में उन्हें मुहम्मदबख्श के नाम से फरार होना पड़ा | बमबाजी तथा विषैले रसायनों के अध्ययन में पारंगत होने के कारण तत्कालीन सरकार ने इन्हें पकड़ने में अधिक तत्परता बरती | सन 1930 के नवम्बर मास में पकड़े जाने के पश्चात चार वर्षों का कारावास तथा दो वर्षों के नजरबन्द का दंड मिला | एक महीना लाहौर किले में तथा साढ़े तीन वर्ष दिल्ली और पंजाब की जेलों में बिताया |

हिन्दी साहित्यकारों में सम्भवतः अज्ञेय ही ऐसे रचनाकार हैं जिन्होंने जीवन का अधिकांश यात्राओं में व्यतीत किया है | इस प्रकार से अज्ञेय ने अपने अकेलेपन को भरपूर समृद्ध किया | प्रकृति से अज्ञेय को गहरा लगाव है | उनका व्यक्तित्व सही आर्थों में उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त हुआ है | एक सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत व्यक्तित्व की भाँति उनका साहित्य भी विशेष संस्कारयुक्त है | सैन्य जीवन से लेकर आकाशवाणी तथा पत्रकारिता के क्षेत्र उनकी कार्यकुशलता तथा क्षमता के परिचालक हैं | 'सैनिक', 'विशाल भारत', 'बिजली', 'प्रतीक', (अंग्रेजी-त्रैमासिक), 'दिनमान' आदि पत्रिकाएँ तथा 'तारसप्तक', 'दूसरा सप्तक', तथा 'तीसरा सप्तक' उनकी सम्पादन-कला के प्रतिमान हैं | संप्रति जोधपुर विश्वविद्यालय में 'तुलनात्माकसाहित्य तथा भाषा-अनुशीलन-विभाग' के निदेशक पद पर कार्य करने के अनन्तर मुक्त लेखन-जीवी |

अज्ञेय अधुनातन कविता के सर्वाधिक चर्चित कवि हैं | इसके साथ-ही-साथ वे सफल और सशक्त कलाकार भी हैं | उनकी रचनाएँ उनके संवेदनशील कवि व्यक्तित्व के साथ ही उनके वैचारिक माअनस की भी संवाहिका हैं | अज्ञेय का चिंतन-पक्ष पर्याप्त समृद्ध एवं मौलिक है जिससे हिन्दी कव्ताको नये विचारसूत्र मिलते रहे हैं | अज्ञेय की प्रयोगशीलता तथा नवीनता को लेकर साहित्य जगत में पर्याप्त चर्चा हुई है | 4 अप्रैल सन 1987 को आपका निधन हो गया |

प्रकाशित रचनाएँ :—पिजन डेज एंड अदरपोयम्स (1946)(अंग्रेजी), कविता : भग्नदूत (1933)(1933), चिन्ता (1942), इत्यलम (1946), हरी घास पर क्षणभर, अरी ओ करुणा, प्रभामय (1959), आंगन के पार द्वार (1961), कितनी नावों में कितनी बार (1967), सागर मुद्रा (1970), क्योंकि मैं उसे जानता हूँ (1970), | बावरा अहेरी, इन्द्रधनुष रौंदे हुए, सुनहरे शैवाल पहले मैं सन्नाटा बुनता था |

कहानियाँ :— विपथगा (1937), कठोरी की बात (1945), शरणार्थी (1948), जयदोल (1951), अमरवल्लरी (1954), मैं तेरे प्रतिरूप (1961) |

उपन्यास :—शेखर एक जीवन (प्रथम भाग) (1941), द्वितीय भाग, (1945), नदी के द्वीप (1952), अपने-अपने अजनबी (1961) |

नाटक :— उत्तर प्रियदर्शी

भ्रमण वृत्तान्त :— अरे यायावर रहेगा याद ? (1953), एक बूँद सहसा उछली (1960) |

निबन्ध :—आधुनिक हिन्दी साहित्य (1942), तारसप्तक (1943), दूसरा सप्तक (1951), तीसरा सप्तक (1959), पुष्करिणी भाग-2 कविता संग्रह (1953), पुष्करिणी सम्पूर्ण (1959), रूपाम्बरा (1960), नये एकांकी (1952), नेहरू अभिनन्दन ग्रंथ (संयुक्त रूप से) (1949), हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियाँ, (1957), भवन्ती, हिन्दी साहित्य विविध परिदृश्य, आलवाल सब रंग कुछ राग |

संकलन :— आज के लोकप्रियकवि : अज्ञेय (1963), पूर्वा (अज्ञेय की 1950 तक की कविताएँ) (1965) |

अनुवाद :— श्रीकान्त (मूल शरदचन्द चट्टोपाध्याय : अंग्रेजी में) (1944), द रेजिग्नेशन (जैनेन्द्र कुमार के त्यागपत्र का अंग्रेजी अनुवाद (1946)

•

यह दीप अकेला

यह दीप अकेला स्नेह-भरा

है गर्व-भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।
यह है जन : गाता गीत जिन्हें फिर और कौन गायेगा?
पनडुब्बा ? ये मोती सच्चे फिर कौन कृति लायेगा?
यह समिधा : ऐसी हठीला बिरला सुलगायेगा।
यह अद्वितीय : यह मेरा : यह मैं स्वयं विसर्जित :
यह दीप, अकेला, स्नेह भरा,
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।
यह मधु है : स्वयं काल की मौना का युग-संचय,
यह गोरस : जीवन-कामधेनु का अमृत-पूत पय
यह अंकुर फोड़ धरा रवि को तकता निर्भय
यह प्रकृत, स्वयम्भू, ब्रह्म, असुत :
इसको भी शक्ति को दे दो।
यह दीप, अकेला, स्नेह-भरा,
है गर्व-भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।
यह वह विश्वास नहीं जो अपनी लघुता में भी काँपा
वह पीड़ा जिसकी गहराई को स्वयं उसी ने नापा
कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुंधआते कड़ुवे तम में
यह सदा द्रवित, चिर-जागरूक, अनुरक्त-नेत्र
उल्लम्ब-बाहु, यह चिर-अखंड अपनापा।
जिज्ञासु, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय
इसको भी पंक्ति को दे दो।
यह दीप, अकेला, स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

नदी के द्वीप

(1)
हम नदी के द्वीप हैं।
हम नहीं कहते कि हमको छोड़कर स्त्रोतस्विनी बह जाय।
वह हमें आकार देती है।
हमारे कोण, गलियाँ, अन्तरीप, उभार सैकत फूल,
सब गोलाइयाँ उसको गढ़ी हैं।
माँ है वह। है, इसी से हम बने हैं।
(2)
किन्तु हम हैं द्वीप।
हम धारा नहीं हैं।
स्थिर समर्पण है हमारा। हम सदा से द्वीप हैं स्त्रोतस्विनी के।
किन्तु हम बहते नहीं हैं। क्योंकि बहना रेत होना है।
हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।
पैर उखड़ेंगें। प्लवन होगा। ढहेंगे। सहेंगे। बह जायेंगे।

और फिर हम चूर्ण होकर भी कभी क्या धार बन सकते?
रेत बनकर हम सलिल को तनिक गँदला ही करेंगे।
अनुपयोगी ही बनायेंगे।
(3)
द्वीप हैं हम।
यह नहीं है शाप। यह अपनी नियति है।
हम नदी के पुत्र हैं। बैठे नदी के क्रोड़ में।
वह बृहद् भूखंड से हमको मिलती है।
और वह भूखंड
अपना पितर है।
(4)
नदी ! तुम बहती चलो।
भूखंड से जो दाय हमको मिला है, मिलता रहा है,
माँजती, संस्कार देती चलो,
यदि ऐसा कभी हो
तुम्हारे आह्लाद से या दूसरों के किसी स्वैराचार से—
अतिचार से

तुम बढ़ो, प्लावन तुम्हारा घरघराता उठे
यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा कीर्तिनाशा घोर
काल-प्रवाहिनी बन जाय
तो हमें स्वीकार है वह भी। उसी में रेत होकर
फिर छनेगें हम। जमेंगे हम। कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर भी खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार।
माता ! उसे फिर संस्कार तुम देना।

सागर-मुद्रा: दो कविताएँ

(1)
कुहरा उमड़ आया
हम उसमें खो गए
सागर अनदेखा
गरजता रहा।
फिर हम उमड़े
सागर अनसुना
गरजता रहा,
कुहरा हम में खो गया,
सब कुछ हम में खो गया,
हम भी
हम में खो गये।
सागर
कुहरा
हम
कुहरा
सागर
शं ....
(2)

यों मत छोड़ दो मुझे, सागर,
कहीं मुझे तोड़ दो, सागर,
कहीं मुझे तोड़ दो !
मेरी दीठ को और मेरे हिय को,

मेरी वासना को और मेरे मन को,
मेरे कर्म और मेरे मर्म को,
मेरे चाहे को और मेरे जिये को,
मुझ को और मुझ को और मुझ को,
कहीं मुझसे जोड़ दो !
यों मत छोड़ दो मुझे, सागर,
यों मत छोड़ दो।

कलगी बाजरे की

हरी बिछली घास।
दोलती कलगी छरहरी बाजरे की।
अगर मैं तुमको
लजाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता,
या शरद के भोर की नीहार-न्याही कुँई,
टटकी कली चप्पे की
वगैरह, तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सुना है
या कि मेरा प्यार मैला है।
बल्कि केवल यही
ये उपमान मैले हो गये हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच।
कभी वासन अधिक घिसने से गुलम्मा छूट जाता है।
मगर क्या तुम
नहीं पहचान पाओगी ?
तुम्हारे रूप के
तुम हो, निकट हो, इसी जादू के
निजी किस सहज, गहरे बोध से
किस प्यार से मैं कह रहा हूँ
अगर मैं यह कहूँ
बिछली घास हो तुम
लहलहाती हवा में कलगी छरहरी बाजरे की?

आज हम शहरातियों को
पालतू मालंच पर सँवरी जुही के फूल से
सृष्टि के विस्तार का ......ऐश्वर्य का
औदार्य का ....
कहीं सच्चा, कहीं प्यारा
एक प्रतीक

बिछली घास है
या शरद की साँझ के सूने गगन की पीठिका पर
दोलती कलगी अकेली
बाजरे की।
और सचमुच, इन्हें जब-जब देखता हूँ
यह खुला वीरान, इन्हें संसृति का घना ही सिमट आता है
और मैं एकान्त होता हूँ
समर्पित।
शब्द जादू है ....
मगर क्या यह समर्पण कुछ नहीं है ?

दूर्वाचल

पार्श्व गिरि का नम्र, चीड़ों में
डगर चढ़ती उमंगों-सी।
बिछी पैरों में नदी ज्यों दर्द की रेखा।
विहग-शिशु मौन नीड़ों में।
मैंने आँख भर देखा।
दिया मन को दिलासा—पुनः आऊँगा।
(भले ही बरस-दिन अनगिन युगों के बाद)
क्षितिज ने पलक-सी खोली
तमक कर दामिनी बोली—
अरे यायावर ! रहेगा याद ?

नख-शिख

तुम्हारी देह
मुझको कनक-चम्पे की कली है
दूर ही से

स्मरण में भी गन्ध देती है।
(रूप स्पर्शातीत वह जिसकी लुनाई
कुहासे-सी चेतना को मोह ले।)
तुम्हारे नैन
पहले भोर की दो ओस-बूँदे हैं
अछूती, ज्योतिमय,
भीतर द्रवित।
(मानो विधाता के हृदय में
जग गयी हो माप करुणा की अपरिमित।)
तुम्हारे ओठ—
पर उस दहकते दाड़िम-पुहुप को
मूक तकता रह सकूँ मैं—
(सह सकूँ मैं
ताप उष्मा का मुझे जो लील लेती है)

कहीं राह चलते-चलते

कहीं राह चलते-चलते
चुक जायेगा
दिन। सहसा झुक आयेगी साँझ घनेरी।
घुल जायेगें रूप धुँधलके में
मृदुः पीड़ाएँ-क्षण-भर-रुक जायेंगी, करतीं
अपने होने पर सन्देह।
एक स्तब्धता से मैं जाऊँगा घिर।
और साँझ फिर
मेरी पहले की पहचानी होगी :
पल-भर उसके भुजा-बन्ध में सिहर
चूम लूँगा मैं उसे उनाबी ओठों पर भरपूर।
कहीं राह चलते-चलते
— है मुझे ज्ञात
दिन चुक जायेगा

अन्धकार में चली गयी है

अन्धकार में चली गयी है
काली रेखा
दूर-दूर पार तक।
इसी लोक के थामें मैं
बढ़ता आया हूँ
बार-बार द्वार तक।
ठिठक गया हूँ वहाँ
खोज यह दे सकती है मार तक।
चलने की है यही प्रतिज्ञा
पहुँच सकूँगा मैं
प्रकाश के पारावार तक।
क्यों चलना यदि पथ है केवल
मेरे अँधकार से
सब के अन्धकार तक?
या कि लाँघ कर ही उसको
पहुँच जावेगा
सब कुछ धारण करने वाली पारमिता करुणा तक।
निर्वैयक्तिक प्यार तक

मैंने देखा एक बूँद

मैंने देखा
एक बूँद सहसा
उछली सागर के झाग से :
रँगी गयी क्षण भर
ढलते सूरज की आग से।
मुझको दीख गया :
सूने विराट् के सम्मुख

हर आलोक-छुआ अपनापन
है उन्मोचन
नाश्वरता के दाग से !

सोन- मछली

हम निहारते रूप,
काँच के पीछे
हाँप रही है मछली
रूप-तृषा भी
(और काँच के पीछे)
है जिजीविषा।

चिड़िया की कहानी

उड़ गयी चिड़िया
काँपी, फिर
थिर
हो गयी पत्ती।

नदी तट : एक चित्र

नदी की बाँक
गोरी चमक बालू की
बिदा की आई लालिम
मेघ की रेखा :
नीरव बलाका

सान्ध्य तारा

साँझ। बुझता क्षितिज।
मन की टूट-टूट पछाड़ खाती लहर ।
काली उमड़ती परछाइयाँ ।
तब एक
तारा भर गया आकाश की गहराइयाँ।

समय क्षण-भर थमा

समय क्षण-भर थमा-सा :
फिर तोल डैने

उड़ गया पंक्षी क्षितिज की ओर,
मद्धिम ललिमा ढरकी अलक्षित।
तिरोहित हो चली ही थी कि सहसा ।
फूट तारे ने कहा : रे समय तू क्या थक गया ?
रात का संगीत फिर
तिरने लगा आकाश में।

पराजय है याद

भोर बेला-नदी तट की घंटियों का नाद
चोट खाकर जग उठा सोया हुआ अवसाद
नहीं, मुझको नहीं अपने दर्द का अभिमान
मानता हूँ मैं पराजय है तुम्हारी याद।

सागर के किनारे

तनिक ठहरूँ चाँद उग आये
तभी जाऊँगा वहाँ नीचे
कसमसाते रुद्ध सागर के किनारे।
चाँद उग आये।
न उसकी
बुझी फीकी चाँदनी में दिये शायद
वे दहकते लाल गुच्छ बुरुस के जो
तुम हो।
न शायद चेत हो मैं नहीं हूँ वह डगर
गीली दूब से मेदुर,
मोड़ पर जिसके नदी का कूल है, जल है ?
मोड़ केभीतर-घिरे हों बाँह में ज्यों—
गुच्छ लाल बुरुस के उत्फुल्ल ।
न आये याद मैं हूँ
किस बीते साल के सीले कलैंडर की
एक बस तारीख जो हर साल आती है।
एक बस तारीख अंकों में लिखी हो जो न जावे

जिसे केवल चन्द्रमा का चिह्न ही बस करें सूचित
बंक.....आधा.....शून्य,
उलटा बंक — काला वृत्त
यथा पूनो— तीन तेरस— सप्तमी,
निर्जला एकादशी—
या अमावस्या।
अँधेरे में ज्वार ललकेगा
व्यथा जायेगी । न जाने दीख क्या जाये
जिसे आलोक फीका सोख लेता है।
तनिक ठहरूँ। कसमसाते रुद्ध सागर के किनारे
तभी जाऊँ वहाँ नीचे—
चाँद उग आये।

बावरा अहेरी

भोर का बावरा अहेरी
पहले बिछाता है आलोक की
लाल-लाल कनियाँ
पर जब खींचता है जाल को
बाँध लेता है सभी को साथ :
छोटी-छोटी चिड़ियाँ
मँझोले परेवे

बड़े-बड़े पंखी
डैनों वाले डील वाले
डौल के बेडौल
उड़ते जहाज
कलस-तिसूल वाले मन्दिर-शिखर से ले
तारघर की नाटी लोटी चिपटी गोल धुस्सों वाली
उपयोग-सुन्दरी
बेपनाह काया को
गोधूली की धूल को, मोटरों के धुएँ को भी
पार्क के किनारे पुष्पिताग कर्णिकार की आलोक-खची तन्वि
रूप-रेखा को

और दूर कचरा जलाने वाली कल उदंड चिमनियों को, जो
धुआँ यों उगलती हैं मानों उसी मात्र से अहेरी को
हरा देंगी।
बावरे अहेरी रे
कुछ भी अवध्य नहीं तुझे, सब अखेट है :
एक बस मेरे मन-विवर में दुबकी कलौंस को
दुबकी ही छोड़कर क्या तू चला जायगा।
ले मैं खोल देता हूँ कपाट सारे
मेरे इस खँडर की शिरा-शिरा छेद दे
आलोक की अनी से अपनी,
गढ़ सारा ढाह कर ढूह भर कर दे :
विफल दिनों की तू कलौंस पर माँज जा
मेरी आँखें आँज जा
कि तुझे देखूँ
देखूँ और मन में कृतज्ञता उमड़ आये
पहनूँ सिरोपे से वे कनक-तार तेरे—
बावरे अहेरी।

अहं राष्ट्री संगमनी जनानाम्

सबेरे आये बाम्हन
जो जैसे ही जागे कि नहाये
नहाते ही भूख से भूख से कुनमुनाये
भूख लगते ही सबको देने लगे
दान और श्रद्धा का उपदेश।
जो अघा कर खा कर घर आ कर (या लाये जा कर)
चैन से लेंगे डकार।
नहीं, जो डकार भी नहीं लेंगे
(वामन ने तीन डग में त्रिलोक नाप लिया था,
ऊँचे-पूरे बाम्हन की एक ही डकार से
मच गया कहीं ब्रह्मांड में हाहाकर?)
दोपहरे आये जाट
जिनेके मचलते ही खुदा को ले जावें चोर।

(क्या इसी तरह राज्य में निभती है धर्म-निरपेक्षता ?)
खुदा तो गया, चोर उसे ले गये :
बाकी रहे हम-सीनाजोर।
सेपहर पधारे कायस्थ :
राज्य की काया में बरसों से बसे हुए
हर मामला फँसाने के काम में बेहतर फँसे हुए।
कायथ जो भला तो किसी का करेंगे कैसे,
पर बुरा नहीं करेंगे, इसके मिलेंगे कितने पैसे ?
साँझ में आये बनिये और अहीर।
कोई अंटी में खोसते नावाँ, काढ़ते हुए खीसें,
कोई लाठी चुपड़ते तेल,
कोई हाँकते भैंस, कोई आँकते भैस वाले का मोल,
कोई जो खुल कर दूध में पानी मिलाता
क्योंकि डीपोवाले को मस्का लगाता है,
कोई जिसे छाती पर मूँग दलना भाता है
कोई जिसे सिर्फ खून पीना आता है
अपने-अपने काम का अपना-अपना तरीका होता है।
राज में रहने, समाज में जीने, राजनीति में जमने का
एक सलीका होता है।
मौलाना रोजे से थे: आये नहीं।
सरदार जी तैश में थे : किसी ने मनाये नहीं।
मसीही आये तो, पर करेंगे क्या,
जब हिन्दी ही कोई पढ़ाये नहीं ?
रात में भी कोई आये, धुप अँधेरे में :
कौन, यह बता नहीं गये।
पूछने पर कुछ लजा या सकपका गये
मानो जान लूँगा तो—
तो न जाने क्या ठान लूँगा—
उन्हें कुछ भी मान लूंग-चोर, दुश्मन, आवारे,
बनजारे, घसियारे—
संक्षेप में—खुले में मुँह न दिखा सकने वाले बेचारे।
सहमें हुए सब, कि उनकी जान लूँ न लूँ
इनसानियत ज़रूर नकार दूँगा।

यों सब आ गये। मेला जुट गया।
यही मैं नहीं जान पाया कि इस पचमेल भीड़ में
वह एक समाज कहाँ छूट गया ?
और जिसमें पहचानना था देश का चेहरा
वह आईना कहाँ लुट गया ?
जाट रे जाट
तेरे सिर पर खाट
परजातन्तर की !
खैर, यह बोझ तो जैसे-तैसे ढो लिया जायेगा—
कभी खाट ऊपर तो कभी जाट ऊपर,

यों बोझा न मान, उसे बेचने से पहले
उस पर थोड़ा सो लिया जायेगा।
(बाद में तो घोड़ा बेच कर सोते हैं।
पर वह नसीबा इस जन नाम गधे को मिला कब !)
देस रे देस
तेरे सिर पर कोल्हू।
इसका भार तू कैसे ढोयेगा
जिसे परेंगे जाट, बाम्हन, बनिया, तेली, खत्री,
मौलवी, कायथ, मसीही, जाटव, सरदार, भुमिहार, अहीर,
और वे सारे घेरे के बाहर के बेचारे
जो नहीं पहचानते अपनी तकदीर :
तू किस-किस को रोयेगा ?
कब बनेगा तो राष्ट्र
कब तू अपनी नियति को पकड़ पाकर
तकिया लगा कर सोयेगा ?

आज तुम शब्द न दो

आज तुम शब्द न दो, न दो
कल भी मैं कहूँगा।
तुम पर्वत हो अभ्र-भेदी शिला खण्डों के गरिष्ठ पुँज
चाँपे इस निर्झर को रहो, रहो
तुम्हारे रन्ध्र-रन्ध्र से

तुम्हीं को रस देता हुआ
फूट कर मैं बहूँगा
तुम्हीं ने दिया यह स्पन्द
तुम्हीं ने धमनी में बाँधा है लहू सा वेग
यह मैं अनुक्षण जानता हूँ।
गति जहाँ सब कुछ है, तुम धृति पारमिता
जीवन के सहज छन्द
तुम्हें पहचानता हूँ।
माँगो तुम चाहे जो : माँगोगे, दूँगा
तुम दोगे जो मैं सहूँगा।
आज नहीं
कल सही
कल नहीं
युग-युग बाद ही :
मेरा तो नहीं है यह
चाहे वह मेरी असमर्थता से बँधा हो।
मेरा भाव-यन्त्र ?
एक मचिया है सूखी घास-फूस की
उसमें छिपेगा नहीं औघड़ तुम्हारा दान—
साध्य नहीं मुझसे, किसी से चाहे सधा हो।
आज नहीं

कल सही
चाहूँ भी तो कब तक छाती में दबाये
यह आग मैं रहूँगा ?
टाज तुम शब्द न दो, न दो
कल भी मैं कहूँगा।

कवितान्तर (कविता-खंड) पृष्ठ-1

❖

शमशेरबहादुर सिंह

शमशेरबहादुर सिंह का जन्म देहरादून में 3 जनवरी, सन 1917 ई0 में एक जाट परिवार में हुआ था। पिता चौधरी तारीफ सिंह कलक्टरी में चीफ रीडर थे। बचपन गोंडा, देहरादून तथा बुलन्दशहर में बीता। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से सन 1933 ई0 में बी0ए0 की परीक्षा उत्तीर्ण की। विवाह सन् 1930 ई0 में देहरादून में हुआ था। सन 1935 में क्षय रोग से पत्नी की मृत्यु हो गयी। सन 1935-36 ई0 में उकील बन्धुओं के कला-विद्यालय में श्री रणदाचरण तथा शारदाचरण से उन्होंने कला-शिक्षा ग्रहण की, किन्तु रचना स्वतन्त्र रूप से करते रहे। आगे चित्रण कविता की अपेक्षा गौण होता गया।

सन् 1931-39 में कुछ समय तक उन्होंने 'रूपम' में सहयोग दिया। सन् 1941-42 में वाराणसी से 'कहानी' का उपसम्पादन सँभाला। वाराणसी में ही शिवदानसिंह चौहान के सम्पर्क से साहित्य के प्रगतिशील आन्दोलन की ओर झुकाव हुआ | सन 1945 ई. में 'नया साहित्य' के सम्पादन के सिलसिले में बम्बई गए | वहाँ से लौटकर ये वर्षों इलाहाबाद में स्वतन्त्र लेखन करते रहे | 1948 से 1954 ई. तक माया प्रेस में सहायक सहायक सम्पादक के रूप में कार्य किया | सम्प्रति दिल्ली में रहकर 'हिन्दी-उर्दू-कोश' की निर्माण-योजना में व्यस्त हैं |

शमशेरबहादुर सिंह के कवि-व्यक्तित्व में रोमांटिक तथा रूपवादी रुझानों के साथ-साथ विवेकपूर्ण सामाजिक चेतना का विस्तार उपलब्ध होता है | अपने रचना-शिल्प में शमशेर अत्यन्त सजग कवि रहे हैं | अपनी व्यक्तिगत जटिलताओं के कारण शमशेर सरल भी हैं और दुरूह भी | शमशेर उर्दू-फारसी काव्य-शिल्प से विशेष प्रभावित रहे हैं और उन्होंने रुबाई, गज़ल आदि उर्दू काव्य रूप भी अपनाए हैं । शमशेर अपनी रचनाओं में बिम्बों, उपमाओं और संगीत ध्वनियों द्वारा वैचित्र्यपूर्ण प्रयोग किये हैं जो उनकी कला सजगता को प्रमाणित करते हैं । इसमें कोई संदेह नहीं है कि उन्होंने छायावादोत्तर काव्य दृष्टि को नयी दृष्टि दी है ।

जिस जनवादी चेतना से वे प्रारम्भ से ही सम्बद्ध रहे हैं, 'वाम दिशा' आदि कविताओं को छोड़कर उनकी अधिकांश रचनाएँ उसे प्रत्यक्षतः व्यक्त नहीं करती हैं । सौन्दर्यवादी रुझान उनमें पर्याप्त विकसित है ।

प्रकाशित रचनाएँ— उदिता, दूसरा सप्तक 1952, में संकलित कविताएँ
कविता—कुछ कविताएँ 1959, कुछ और कविताएँ 1961,
कहानी—प्लाट का मोर्चा
निबन्ध—दोआब
अनुवाद—'कामिनी' 'हश्शू और पी कहाँ (रतननाथ सरशार के उपन्यास)

कवितान्तर (कविता-खंड) पृष्ठ-18

❖

लौट आ, ओ धार

लौट आ ओ धार !
टूट मत ओ साँझ के पत्थर
हृदय पर
(मैं समय की एक लम्बी आह
मौन लम्बी आह।)

लौट आ, ओ फूल की पँखड़ी !
फिर
फूल में लग जा।
चूमता है धूल का फूल
कोई, हाय !!

बात बोलेगी

बात बोलेगी
हम नहीं।
भेद खोलेगी
बात ही।
सत्य का मुख
झूठ की आँखें
क्या-देखें ।
सत्य का रुख
समय का रुख है।
अभय जनता को
सत्य ही सुख है
सत्य ही सुख।
दैन्य दानव; काल
भीषण; क्रूर

स्थिति; कंगाल
बुद्धि; घर-मजूर
सत्य का
क्या रंग ?
पूछो
एक संग
एक—जनता का
दुःख : एक।
हवा में उड़ती पताकाएँ
अनेक।
दैन्य दानव । क्रूर स्थिति।
कंगाल बुद्धि: मजूर घर-घर
एक जनता का अमर वर
एकता का स्वर।
अन्यथा स्वातन्त्र्य-इति।

अमन का राग

सच्चाइयाँ
जो गंगा के गोमुख से मोती की तरह बिखरती रहती है।
हिमालय की बर्फीली चोटी पर चाँदी के उन्मुक्त नाचते
पैरों में झिलमिलाती रहती है
जो एक हजार रंगों के मोतियों का खिलखिलाता समंदर है

उमंगों से भरी फूलों की जवान किश्तियाँ
कि बसंत के नए प्रभात सागर में छोड़ दी गयी है।
ये पूरब-पच्छिम मेरी आत्मा के ताने-बाने हैं।
मैनें एशिया की सतरंगी किरनों को अपनी दिशाओं के गिर्द
लपेट लिया
और मैं योरप और अमरीका की नर्म आँच की धूप-छाँह पर
बहुत हौले-हौल नाच रहा हूँ।
सब संस्कृतियाँ मेरे सरगम में विभोर हैं
क्योंकि मैं हृदय की सच्ची सुख-शान्ति का राग हूँ
बहुत आदिम, बहुत अभिनव।

हम एक साथ उषा के मधुर अधर बन उठे
सुलग उठे हैं
सब एक साथ ढाई अरब धड़कनों में बज उठे हैं
सिम्फोनिक आनंद की तरह
यह हमारी गाती हुई एकता
संसार के पंचपरमेश्वर का मुकुट पहन
अमरता के सिंहासन पर आज हमारा अखिल लोक-प्रेसिडेंट
बन उठी है
देखो न हकीकत, हमारे समय की, कि जिसमें
होमर एक हिन्दी कवि सरदार जाफरी को
इशारे से अपने करीब बुला रहा है
कि जिसमें
फैयाज खाँ बिटाफेन के कान में कुछ कह रहा है
मैने समझा कि संगीत की कोई अमरता हिल उठी
मैं शेक्सपियर का ऊँचा माथा उज्जैन की घाटियों में
झलकता हुआ देख रहा हूँ
और कालिदास का वैमर के कुंजो में विहार करते
और आज तो मेरा टैगोर, मेरा हाफिज, मेरा तुलसी गालिब
एक-एक मेरे दिल के जगमग पावन-हाउस का
कुशल आपरेटर है।
आज सब तुम्हारे ही लिये शांति का युग चाहते हैं
मेरी कुटुबुटू।
तुम्हारे ही लिये मेरे प्रतिभाशाली भाई तेजबहादुर
मेरे गुलाब की कलियों से हँसते-खेलते बच्चों
तुम्हारे ही लिये तुम्हारे ही लिये
मेरे दोस्तों ! जिनमें जिन्दगी में मानी पैदा होता हैं
और उस निश्छल प्रेम के लिए
जो माँ की मूर्ति है
और उस अमर परमशक्ति के लिये जो पिता का रूप है

हर घर में सुख
शांति का युग

हर छोटा-बड़ा, हर नया-पुराना, हर आज-कल, परसों के

आगे और पीछे का युग।
शांति की स्निग्ध कला में डूबा हुआ
क्योंकि इसी कला का नाम जीवन की भरी-पूरी गति है।
मुझे अमरीका का लिबर्टी-स्टैचू उतना ही प्यारा है
जितना मास्को का लाल तारा।
और मेरे दिल में पेकिंग का स्वर्गीय-महल
मक्का-मदीना से कम पवित्र नहीं
मैं काशी में उन आर्यों का शंखनाद सुनता हूँ
जो वोल्गा से आये
मेरी देहली में प्रहलाद की तपस्याएँ दोनों दुनियाओं की
चौखट पर

युद्ध की हिरण्यकश्यप को चीर रहीं है।
यह कौन मेरी धरती की शांति की आत्मा पर कुरबान
हो गया है !
अभी सत्य की खोज तो बाकी ही थी
यह एक विशाल अनुभव की चीनी दीवार
उठती ही बढ़ती आ रही हैं
उसकी ईंटें धड़कते हुये सुर्ख दिल हैं |
यह सच्चाइयाँ बहुत गहरी नीवों में जाग रहीं हैं
वह इतिहास की अनुभूतियाँ हैं
मैंने सोवियत यूसुफ के सीने पर कान रखकर सुना है।
आज मैने गोर्की को होरी के आँगन में देखा
और ताज के साये में राजर्षि कुंग को पाया।
लिंकन के हाथ में हाथ दिये हुये
और ताल्स्ताय मेरे देहाती यूपियन-ओठों से बोल उठा
और आरगों की आँखों में नया इतिहास
मेरे दिल की कहानी की सुर्खी बन गया।
मैं जोश की वह मस्ती हूँ जो नेरुदा की भवों से
जाम की तरह टकराती है।
वह मेरा नेरुदा जो दुनिया के शांति पोस्ट आफिस का
प्यारा और सच्चा कासिद।
वह मेरा जोश की दुनिया का मस्त आशिक

मैं पंत के कुमार छायावादी सावन-भादों की चोट हूँ।
हिलोर लेते वर्ष पर
मैं निराला के राम का एक आँसू
जो तीसरे महायुद्ध के कठिन लौह-पदों को
एटमी सुई-सा-पार कर गया पाताल तक
और वहीं उसको रोक दिया।
मैं सिर्फ एक महान विजय का इंदीवर, जनता की आँख में
जो शांति की पवित्रतम आत्मा है।
पच्छिम में काले और सफेद फूल हैं और पूरब में पीले
और लाल।

उत्तर में नीले कई रंग के और हमारे यहाँ चम्पई-साँवले
और दुनिया में हरियाली कहाँ नहीं?
जहाँ भी आसमान बादलों से जरा भी पीछे जाते हों
और आज गुलदस्तों में रँग-रँग के फूल सजे हुए हैं
और आसमान इन खुशियों का आईना है।
आज न्यूयार्क के स्काईस्क्रेपरों पर
शांति के "डवों" और उसके राजहँसों ने
एक मीठे उजले सुख का हलका-सा अँधेरा
और शोर पैदा कर दिया है।
और अब वो अर्जन्टीना की सिम्त अतलांतिक को पार कर रहे हैं।
पाल राब्सन ने नयी दिल्ली से नये अमरीका की
एक विशाल सिम्फनी ब्राडकास्ट की है
और उदयशंकर ने दक्षिणी अफ्रीका में नयी अजंता को
स्टेज पर उतारा है।
यह महान नृत्य, वह महान स्वर, कला और संगीत
मेरा है, यानी हर अदना से अदना इंसान का
बिल्कुल अपना निजी।
युद्ध के नक्शों को कैंची से काटकर कोरियाई बच्चों ने
झिलमिली फूलपत्तों की रोशन-फनूसें बना ली हैं।
और हथियारों को स्टील और लोहा हजारों
देश को एक दूसरे से मिलानेवाली रेलों के जाल में बिछ गया है।
और ये बच्चे उन पर दौड़ती हुई रेलों के डिब्बों की
खिड़कियों से

हमारी ओर झाँक रहे हैं।
वह फौलाद और लोहा, खिलौनों, मिठाईयों और किताबों
से लदे स्टीमरों के रूप में
नदियों की सार्थक सजावट बन गया है
या विशाल ट्रैक्टर-कम्बाइन और फैक्टरी-मशीनों के हृदय में
नवीन छंद और लय का प्रयोग कर रहा है।
यह सुख का भविष्य शांति की आँखों में ही वर्तमान है।
इन आँखों से हम सब अपनी उम्मीदों की आखें सेक
रहे हैं।
ये आँखें हमारे दिल में रोशन और हमारी पूजा का
फूल हैं।
ये आँखें हमारे कानून का सही चमकता हुआ मतलब
और हमारे अधिकारों की ज्योति से भरी शक्ति है।
ये आँखें हमारे माता-पिता की आत्मा और हमारे बच्चों
का दिल हैं
ये आँखें हमारे इतिहास की वाणी
और हमारी कला का सच्चा सपना हैं
ये आँखें हमारा अपना नूर और पवित्रता हैं
ये आँखें ही अमर सपानों की हकीकत और
हकीकत का अमर सपना हैं

इनको देख पाना ही अपने-आपको देख पाना है
समझ पाना है।
हम मानते हैं कि हमारे नेता इनको देख रहे हों।

उषा

प्रात नभ था बहुत नीला शंख जैसे
भोर का नाभ
राख से लीपा हुआ चौका
(अभी गीला पड़ा है)
ब्हुत काली सिल जरा से लाल केसर से
कि जैसे घुल गयी हो ।
स्लेट पर या लाल खड़िया चाक

मल दी हो किसी ने
नील जल में या किसी की
गौर झिलमिल देह
जैसे हिल रही हो।
और..........
जादू टूटता है इस उषा का अब
सूर्योदय हो रहा है।

न पलटना उधर

न पलटना उधर
कि जिधर उषा के जल में
सूर्य का स्तम्भ हिल रहा है
न उधर नहाना प्रिये।
जहाँ इन्द्र और विष्णु एक हों
अभूतपूर्व !
यूनानी अपोलो के स्वपंखी कोमल बरबत से
धरती का हिया कँपा रहे हैं
– और भी अभूतपूर्व!
उधर काम न देना प्रिये
शंख से अपने सुन्दर कान
जिनकी इन्द्रधनुषी लवें
अधिक दीप्त हैं।
उन सँकरे छन्दों को न अपनाना प्रिये
(अपने वक्ष के अधीर गुन-गुन में)
जो गुलाब की टहनियों से टेढ़े-मेढ़े हैं
चाहे कितने ही कटे-छटे लगें हों।
उनमें वो ही बुलबुलें छिपी हुई बसी हुई हैं
जो कई जन्मों तक की नींद से उपराम कर देंगी
प्रिये !
एक ऐसा भी सागर-संगम हैं।
देवापगे !

जिसके बीचों बीच तुम खड़ी हो

ऊर्ध्वस्व धारा
आदि सरस्वती का आदि भाव
उसी में समाओ प्रिये।
मैं वहाँ नहीं हूँ !

एक पीली शाम

एक पीली शाम
पतझर का जरा हुआ पत्ता
शान्त
मेरी भावनाओं में तुम्हारा मुखकमल
कृश म्लान हारा-सा
(कि मैं हूँ वह
मौन दर्पण में तुम्हारे कहीं ?)
वासना डूबी
शिथिल पल में
स्नेह काजल में
लिये अद्‌भुत रूप-कोमलता
अब गिरा अब गिरा वह अटका हुआ आँसू
सान्ध्य तारक-सा
अतल में।

घिर गया है समय का रथ

मौन सन्ध्या का दिये टीका
रात
काली
आ गयी
सामने ऊपर, उठाये हाथ-सा
पथ चढ़ गया।
घेरने को दुर्ग की दीवार मानों
अचल विन्ध्या पर
कुंडली खोली सिहरती चाँदनी ने

पंचमी की रात।
घूमता उत्तर दिशा को सघन-पथ
संकेत में कुछ कह गया।
चमकते तारे लजाते हैं
प्रेरणा का दुर्ग।
पार पश्चिम के, क्षितिज के पार
अमित गंगाएँ बहाकर भी
प्राण का नभ धूल-धूसित हैं।
भेद ऊषा ने दिये सब खोल
हृदय के कुल भाव

रात्रि के, अनमोल
दुःख कढ़ता सजल, झलमल
आँख मलता सूर्य-स्त्रोत।
पुनः
पुनः जगती जोत
X X X
घिर गया है समय का रथ कहीं।
लालिमा में मढ़ गया है राग।
भावना की तुँग लहरें
पन्थ अपना, अन्त अपना जान
खोलती हैं मुक्ति के उद्गार।

शिला का खून पीती थी

शिला का खून पीती थी
वह जड़
जो कि पत्थर की स्वयं।
सीढ़ियाँ थी बादलों की झूमतीं
टहनियों-सी।
और वह पक्का चबूतरा
ढाल में चिकना
सुतल था
आत्मा के कल्पतरु का ?

मैं बार-बार कहता रहा

मैं बार-बार कहता रहा : यह कागज का नहीं है बाघ
जिस पर मैं सवार हूँ
और तुम लगातार हँसते ही चले गये एक ऐसी हँसी जिसमें
बाघ की सी धारियाँ और उसके खुले मसूड़ों की लालिमा थी
और उसकी बेआवाज, चाल की मासूमियत।
मैं फिर भी और जोर देने के लिए, सर उठा
और भी जोर से दहड़ा |
प्रतिध्वनि में एक अट्टहास गूँजा
जिससे हम दोनों ही एक क्षण के लिये
तो
सन्न रह गये |
आउर फिर बहुत युगों तक
शांति व्याप्त रही |

'तुम'

चित्रकारों के
रंगों में बन
स्वयं
फैल-फैल मैं गया

हूँ, कहाँ-कहाँ!
कविता
मैं हूँ अब; वह था कल,.....
होगी कल-यह दुनिया
मेरे जीवन में |
आओ—ले जाओ
मुझसे मेरा
प्रणय का धन
सर्वः
वह है सब तुम्हारा ही—
तुम-
वह 'तुम' है।

चाँद सी थोड़ी सी गप्पें

(एक दस-ग्यारह साल की लड़की)
गोल है खूब मगर
आप तिरछे नज़र आते हैं जरा।
आप पहने हुए हैं कुल आकाश
तारों-जड़ा
सिर्फ मुँह खोले हुए हैं अपना
गोरा-चिट्ठा
गोल मटोल,
अपनी पोशाक को फैलाए हुए चारों सिम्त।
आप कुछ तिरछे नज़र आते हैं जाने कैसे
– खूब हैं गोकि !
वाह जी वाह !
हमको बुद्धू ही गिरा समझा है !
हम समझते ही नहीं जैसे कि
आपको बीमारी है :
आप घटते हैं तो पटते ही चले जाते हैं,
और बढ़ते हैं तो बस यानी कि
बढ़ते ही चले जाते हैं—
हम नहीं लेते हैं जब तक बिल्कुल ही
गोल न हो जायँ
बिलकुल गोल।
यह मरज़ अपका अच्छा ही नहीं होने में
आता है।
यह न होता तो, कदम से, हम सब
कहते हैं—
आपसे शादी कर लेते—
फ़ौरन ।....
आप हँसते हैं, मगर
यों भी दिल खींच वो लेते ही हैं आप
(हाँ, जी) समुन्दर की तरह,
और मैं बेचैन-सी हो जाती हूँ

उसकी लहरों की तरह
ज्वार-भाटा-सा अजब जाने क्यों
उठने लगता है ख्यालों में मेरे
खाहम्ख़ाह !
जाओ हटो !
ऐसे इन्सान को हम प्यार नहीं करते हैं
मुँह-दिखाई ही फ़क़त
जो मेरा सरबस माँगे,
और फिर हाथ न आये।
मुफ्त कविताएँ सुने,
अपने दिल की न बतायें;
जब भी आयें
यूँ ही आये
यूँ ही उलझाए।
ऐसे इन्सान को हम आख़िर तक
प्यार नहीं करते हैं,
हाँ समझ गये ?

चार छोटी कविताएँ

(1)
यह मिठास। यह तरलता। हास।
यह भरे संकेत में उल्लास।
मैं यहाँ क्यों हूँ सरल छल से घिरा ?
प्यास में यह तृप्ति-जैसी प्यास !

(2)
आज का नहीं दिन
ठीक,
कल जाना,
मीत।
– यह भी पथ है;
तुम भी पथमय;
पन्थी की लय
पथ-मय।

(3)
बँधा होता भी
मौन यदि
उस व्यथा के रूप से कोमल
जो कि तुम हो
समय पा लेता
उसे तप भी ।

(4)
सूना-सूना पथ है उदास झरना
एक धुँधली बादल—रेखा पर टिका हुआ

आसमान
जहाँ वह काली युवती
हँसी थी।

मैजिक कैसमेन्ट्स

चाँदनी पत्ते खड़काती है
जबकि हवा लीपती चलती छायाओं से नभ की भीतें
अनगीन हाथों में लिये हुए सपनों की कुंडियाँ
चाँदनी
पत्ते खड़काती है,
और खुल जाती है पेड़ों में लाखों ही खिड़कियाँ
और दीवारों में जैसे अनगिनती आइने जड़ जाते हैं।

सींग और नाखून

सींग और नाखून।
लोहे के बख्तर कंधो पर |
सीने में सूराख हड्डी का
आँखों में घास-काई की नमी।
एक मुर्दा हाथ
पाँव पर टिका
उल्टी कलम थामे।

तीन तसलों में कमर का घाव सड़ चुका है।
जड़ों का भी कड़ा जाल
हो चुका पत्थर।

ग़ज़ल

यहाँ कुछ रहा हो तो हम मुँह दिखाएँ
उन्होंने बुलाया है क्या ले के जाएँ
कुछ आपस में जैसे बदल-सी गयी हो
हमारी दुआएँ तुम्हारी बलाएँ
तुम एक ख़ाब थे जिसमें खुद खो गये हम
तुम्हें याद आएँ तो क्या याद आएँ
वो एक बात जो ज़िन्दगी बन गयी है
जो तुम भूल जाओ तो हम भूल जाएँ
वो ख़ामोशियाँ जिनमें तुम हो न हम हैं
मगर हैं हमारी तुम्हारी सदाएँ
बहुत नाम है एक 'शमसेर' भी है
किसे पूछते हो, किसे हम बताएँ

रुबाई

हम अपने ख़याल को सनम समझे थे,
अपने को ख़याल से भी कम समझे थे !

होना था—समझना न था कुछ भी, शमशेर,
होना भी कहाँ था वह जो हम समझे थे !

वाम वाम वाम दिशा

वाम वाम वाम दिशा
समय साम्यवादी।
पृष्ठभूमि का विरोध अन्धकार-लीन। व्यक्ति—
कुहा स्पष्ट हृदय-भार, आज हीन
हीनभाव, हीनभाव

मध्यवर्ग का समाज, दीन।
किन्तु उधर
पथ-प्रदर्शित मशाल
कसकर की मुट्ठी में—किन्तु उधर
आगे-आगे जलती चलती
लाल-लाल
वज्र-कठिन कमकर की मुट्ठी में
पथ-प्रदर्शिका मशाल।
भारत का
भूत वर्तमान और भविष्य का वितान लिये
काल-मान-विज्ञ मार्क्स-मान में तुला हुआ
वाम वाम वाम दिशा
सामय साम्यवादी।
अंग-अंग एकनिष्ठ
ध्येय-धीर
सेनानी
वीर युवक
अति बलिष्ठ
वामपन्थगामी वह
समय साम्यवादी।
लोकतंत्र-पूत वह
दूत, मौन, कर्मनिष्ठ
जनता का
एकता—समन्वय वह
मुक्त का धनंजय वह
चिरविजयी वय में वह
ध्येय-धीर
सेनानी
अविराम
वाम-पक्षवादी है
वाम वाम वाम दिशा
समय साम्यवादी।

❖

गजानन माधव मुक्तिबोध

जन्म 13 नवम्बर 1917 को शिवपुरी (ग्वालियर) में हुआ | इनके किसी पूर्वज ने खिलजी काल में 'दास-बोध'की तुलना में 'मुग्ध-बोध' या 'मुक्त-बोध' नामक कोई आध्यात्मिक ग्रंथ लिखा था। कालान्तर में उस पर वंश का नाम चल पड़ा। पिता माधव मुक्तिबोध थानेदार (बाद में इन्सपेक्टर) होते हुए भी अत्यन्त वैष्णव प्रकृति के व्यक्ति थे लेकिन दबंगई उनके स्वभाव का खास अंग थी। मुक्तिबोध जाति के महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। सन 1938 में उन्होंने होल्कर कालेज इन्दौर से बी.ए. किया। सन 1939 में उन्होंने प्रेम-विवाह किया। पारिवारिक विपरीतताओं के कारण वर्षों बाद 1954 में एम.ए किया। बी.ए. परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात उज्जैन के मार्डन स्कूल में अध्यापन। तत्पश्चात शुजालपुर में शारदा-शिक्षा-सदन, जबलपुर में हितकारिणी हाईस्कूल तथा राजानाँदगाँव के दिग्विजय कालेज में सम-समय पर अध्यापन कार्य किया।

सन् 1945 में वाराणसी से प्रकाशित होने वाले साहित्यिक पत्र 'हंस' के सम्पादक नियुक्त हुए, लेकिन वे वहाँ के वातावरण से ऊबकर सन सन् 46-47 में जबलपुर चले गए और वहाँ से नागपुर पहुँचे। कुछ दिनों तक नागपुर रेडियो के समाचार-विभाग में सम्पादक भी रहे। भोपाल तबादला होने पर किसी भ्रमवश उन्होंने नौकरी छोड़ दी और वहाँसे प्रकाशित होने वाले साप्ताहिक 'नया खून' के स्तम्भ-लेखक हो गए और अन्त तक वे राजनाँदगाँव के दिग्विजय कालेज में रहे।

गजानन माधव मुक्तिबोध मार्क्सवादी विचारधारा के साहित्यकार थे। उज्जैन में उन्होंने मध्यभारत प्रगतिशील-लेखक-संघ की बुनियाद डाली। व्यक्तिगत जीवन में बहुत ही सरल जागरूक व्यक्ति थे। उनकी जागरूकता उनके काव्य में स्पष्टतः ध्वनित होतीहै। मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं को स्वयं नागात्मक विशेषण दिया है और उन्हें भयानक हिडिम्बा भी कहा है जो उनकी रचना-प्रकृति पर प्रकाश डालता है। बड़ी कविताओं में कवि ने बहुधा मोड़ के अंशों को नाटकीय बनाकर उनके एकरस विस्तार को प्रदीप्त किया है। कुछ कविताओं के शीर्षक भी उन्होंने बदले हैं, जैसे आशंका के दीप को अँधेरे में नाम बाद में दिया गया। मुक्तिबोध का स्थान नयी कविता के क्षेत्र में विशेष महत्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि उन्होंने जटिल

संवेदनाओं की सफल सर्जनात्मक अभिव्यक्ति की है। उनकी फन्तासियाँ मानवीय चेतना के गहन अन्धलोकों को प्रस्तुत करती हैं। उनकी कविताओं के गहराते हुए अँधेरे और उद्वेलित समुद्र की सम्मिलित प्रतीकात्मक अनुभूति केन्द्रीय प्रतीत होती है। मुक्तिबोध के वैचारिक मनस् ने जीवन की जटिलताओं से साक्षात्कार किया है, उनकी रचनायें इस बात की साक्षी हैं। चूँकि मुक्तिबोध बचपन से ही मालव की प्राकृतिक सुषमा से प्रभावित थे इसलिये इनकी फन्तसियोंमें भी व्यक्ति की आवेगात्मक रंगीन मनोरचना ही प्रधान है। उनकी रचनायें उनके चिन्तन की अथक यात्रा का प्रतीक हैं।

11 सितम्बर 1964 ई. को 47 वर्ष की उम्र में एक लम्बी बीमारी के कारण दिल्ली के एक अस्पताल में उनका निधन हो गया।

जिनकी प्रमुख कृति 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' तथा 'एक साहित्यिक की डायरी' पर उनकी ख्याति विशेषतः आधारित है वे मरणोत्तर प्रकाशित हुई हैं। अपने जीवन-काल में मुक्तिबोध को उतनी ख्याति प्रप्त नहीं हुई जितनी देहावसान के अनन्तर मिली।

प्रकाशित कृतियाँ—

काव्य—'तार सप्तक' (1943, में संकलित कवितायें, चाँद का मुँह टेढ़ा है' (1964)

निबन्ध—कामायनी एक पुनर्विचार (1962), नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबन्ध (1964), एक साहित्यिक की डायरी (1964)

कहानी संग्रह—काठ का सपना, विपात्र।

❖

ब्रह्मराक्षस

शहर के उस ओर खंडहर की तरफ
परित्यक्त सूची बावड़ी
के भीतरी
ठण्डे अंधेरे में,
बसी गहराइयाँ जल की
सीढ़ियाँ डूबी अनेकों
उस पुराने घिरें पानी में
समझ में आ न सकता हो

कि जैसे बात का आधार
लेकिन बात गहरी हो।
बावड़ी को घेर।
बालें खूब उलझी हैं
खड़े है मौन औदुम्बर
व शाखों पर
लटकते घुग्घुओं के घोंसलें
परित्यक्त, भूरे, गोल।
विगत शत पुण्य का आभास
जंगली हरी कच्ची गन्ध में बसकर
हवा में तैर
बनता है गहन सन्देह
अनजानी किसी बीती हुई उस श्रेष्ठता का जो कि
दिल में एक खटके-सी लगी रहती।
बावड़ी की इन मुँडेरों पर
मनोहर हरी कुहनी टेक
बैठी है टगर
वे पुण्य तारे-श्वेत
उसके पास

लाल फूलों का लहकता झौंर
मेरी वह कन्हैर
वह बुलाती एक खतरे की तरफ जिस ओर
अँधियारा खुला मुँह बावड़ी का
शून्य अम्बर ताकता है |
बावड़ी की उन घनी गहराइयों में शून्य
ब्रह्मराक्षस एक पैठा है
व भीतर से उमड़ती गूँज की भी गूँज
बड़बड़ाहट-शब्द पागल-से |
गहन अनुमानिता
तन की मलिनता
दूर करने के लिये प्रतिपल
पाप-छाया दूर करने के लिए, दिन रात
स्वच्छ करने
ब्रह्मराक्षस
घिस रहा है देह
हाथ के पंजे, बराबर
बाँह-छाती-मुँह छपाछप
खूब करते साफ
फिर भी मैल
फिर भी मैल !!
और.......ओठों से
अनोखा-स्त्रोत, कोई क्रुद्ध मन्त्रोच्चार
अथवा शुद्ध संस्कृत गालियों का ज्वार
मस्तक की लकीरें

बुन रही
आलोचनाओं के चमकते तार !!
उस अखण्ड स्नान का पागल प्रवाह
प्राण में संवेदना है स्याह !!
किन्तु, गहरी बावड़ी
के भीतरी दीवार पर
तिरछी गिरी रवि-रश्मि
के उड़ते हुए परमाणु, जब

तल तक पहुँचते हैं कभी
तब ब्रह्मराक्षस समझता है, सूर्य ने
झुक कर 'नमस्ते' कर दिया ।
पथ भूलकर जब चाँदनी
की किरन टकराये
कहीं दीवार पर
तब ब्रह्मराक्षस समझता है
वन्दना की चाँदनी ने
ज्ञान-गुरु माना उसे
अति-प्रफुल्लित कण्टकित तन-मन वही
करता रहा अनुभव कि नभ ने भी
विनत हो मान ली है श्रेष्ठता उसकी !!
और, तब दुगने भयानक ओज से
पहचान वाला मन
सुमेरी-बैबिलौनी जब कथाओं
मधुर वैदिक ऋचाओं तक
व तब से आज तक के सूत्र
छन्द्स, मन्त्र, थियोंरम
सब प्रमेयों तक
कि मार्क्स, एंजेल्स, रसेल, टायनबी
कि हीडेग्गर व स्पेंग्लर, सार्त्र, गान्धी भी
सभी के सिद्ध-अन्तों का
नया व्याख्यान करता वह
नहाता ब्रह्मराक्षस, श्याम
प्राक्तन बावड़ी की
उन घनीं गहराइयों में शून्य ।
गरजती, गूँजती, आन्दोलिता
गहराइयों से उठ रहीं ध्वनियाँ, अतः
उद्भ्रान्त शब्दों के नये आवर्त में
हर शब्द निज प्रतिशब्द को भी काटता
वह रूप अपने बिम्ब से भी जूझ
विकृताकार-कृति
है बन रहा

ध्वनि लड़ रही अपनी प्रतिध्वनि से यहाँ
बावड़ी की इन मुँडेरों पर

मनोहर हरी कुहनी टेक सुनते हैं
टगर में पुष्प-तारे श्वेत
वे ध्वनियाँ
सुनते हैं करौंदी के सुकोमल फूल
सुनता है उन्हें प्राचीन औदुम्वर
सुन रहा हूँ मैं वही
पागल प्रतीकों में कहीं जाती हुई
वह ट्रैजिडो
जो बावड़ी में अड़ गयी।
खूब ऊँचा एक जीना साँवला
उसकी अँधेरी सीढ़ियाँ
वे एक अभ्यन्तर निराले लोक की
एक चढ़ना औ लुढ़कना
मोच पैरों में
व छाती पर अनेकों घाव।
बुरे-अच्छे-बीच के संघर्ष
से भी उग्रतर
अच्छे व उससे अधिक अच्छे बीच का संगर
गहन किंचित् सफलता
अति भव्य असफलता !!
अतिरेकवादी पूर्णता
की ये व्यथाएँ बहुत प्यारी है
ज्यामितिक संगति-गणित
की दृष्टि के कृत
भव्य नैतिक मान
आत्मचेतन सूक्ष्म नैतिक मान
अतिरेकवादी पूर्णता की तुष्टि करना
कब रहा आसान
मानवी अन्तर्कथाएँ बहुत प्यारी है !!
रवि निकलता

लाल चिन्ता की रुधिर-सरिता
प्रवाहित कर दीवारों पर
उदित होता चन्द्र
व्रण पर बाँध देता
श्वेत-धौली पटिट्याँ
उद्विग्न भालों पर
सितारे आसमानी छोर पर फैले हुए
अनगिन-दशमलव-से
दशमवलव-बिन्दुओं के सर्वतः
पसरे हुए उसके गणित मैदान में
मारा गया, वह काम आया
और वह पसरा पड़ा है
वक्ष-बाँहें खुली फैली

एक शोधक की।
व्यक्तित्व वह कोमल स्फटिक-प्रासाद-सा
प्रासाद में जीना
न जीने की अकेली सीढ़ियाँ
चढ़ना बहुत मुश्किल रहा
वे भाव-संगत तर्क संगत
कार्य सामंजस्य-योजित
समीकरणों के गणित की सीढ़ियाँ
हम छोड़ दें उसके लिए।
उस भाव-तर्क-व-कार्य-सामंजस्य-योजना-
शोध में
सब पण्डितों, सब चिन्तकों के पास
वह गुरु प्राप्त करने के लिए
भटका !!
किन्तु युग बदला व आया कीर्ति-व्यवसायी
लाभकारी कार्य में से धन
व धन में से हृदय-मन
और घन-अभिभूत अन्तःकरण में से
सत्य की झाँई
निरन्तर चिलचिलाती थी।

आत्मचेतस् किन्तु इस
व्यक्तित्व में थी प्राणमय अनबन
विश्वचेतम् बे-बनाव !!
महत्ता के चरण में था
विषादाकुल मन।
मेरा उसी से उन दिनों होता मिलन यदि
तो व्यथा उसकी स्वयं जी कर
बताता मैं उसे उसका स्वयं का मूल्य
उसकी महत्ता।
व उस महत्ता का
हम-सरीखों के लिए उपयोग
उस आन्तरिकता का बताता मै महत्व !!
पिस गया वह भीतरी
औ बाहरी दो कठिन पाटों बीच
ऐसी ट्रैजिडो है नीच !!
बावड़ी में वह स्वयं
पागल प्रतीकों में निरन्तर कह रहा
वह कोठरी में किस तरह
अपना गणित करता रहा
औ मर गया
वह सघन झाड़ी के कँटीले
तम-विवर में
मरे पक्षी-सा
विदा ही हो गया

वह ज्योति अनजानी सदा की सो गयी
यह क्यों हुआ।
क्यों यह हुआ !!
मैं ब्रह्मराक्षस का सजल-उर-शिष्य
होना चाहता
जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य
उसकी वेदना का स्रोत
संगत, पूर्ण निष्कर्षों तलक
पहुँचा सकूँ।

मुझे पुकारती हुई पुकार

मुझे पुकारती हुई पुकार खो गयी कहीं
प्रलम्बिता अंगार-रेख-सा खिंचा
अपार चर्म
वक्ष प्राण का
पुकार खो गयी कहीं बिखेर अस्थि के समूह
जीवनानुभूति की गम्भीर भूमि में।
अपुष्प-पत्र, वक्र-श्याम, झाड़-झंखड़ों घिरे असंख्य ढूह
भग्न-निश्चयों-रूँधे विचार-स्वप्न-भाव के
मुझे दिखे
अपूर्त सत्य की क्षुधित
अपूर्ण यत्न की तृषित
अपूर्त जीवनानुभूत-प्राणमूर्ति की समस्त-भग्नता दिखी
(कराह भर उठ प्रसाद प्राण का अजब)
समस्त भग्नता दिखी
कि ज्यों विरक्त प्रान्त में
उदास-से किसी नगर
सटर-पटर
मलीन, त्यक्त, जंग लगे कठोर-ढेर
भग्न वस्तु के समूह
चिलचिला रहे प्रचण्ड धूम में उजाड
दिख गये कठोर स्याह
(घोर धूप में) पहाड़
कठिन सत्व भावना नपुंसका असंज्ञ के
मुझे दिखी विराट् शून्यता अशान्त काँपती
कि इस उजाड़ प्रान्त के प्रसार में रही चमक
रहा चमक प्रसार
फाड़ श्याम-मृत्तिका-स्तरावण उठे सकोंण
प्रस्तरी प्रतप्त अंग यत्र तत्र सर्वतः
कि ज्यों ढँकी वसुन्धरा-शरीर की समस्त अस्थियाँ खुलीं
रहीं चमक कि चिलचिला रही वहाँ
अचेत सूर्य की सफेद औ उजाड़ धूप में।

समीर-हीन खैबरी
अशान्त घाटियों गयी असंग राह

शुष्क पार्वतीय भूमि के उतार औ उठान की निरथ
उच्चता निहारती चली वितृष्ण दृष्टि से
(कि व्यर्थ उच्चता बधिर असंज्ञ यह)
उजाड़ विश्व की कि प्राण की
इसी उदास भूमि में अचक जगा
मुझे पुकारती हुई पुकार खो गयी कहीं।
दरार पड़ गयी तुरत गभीर-दीर्घ
प्राण की गहना धरा प्रतप्त के
अनीर श्याम मृत्तिका शरीर में।
कि भाव स्वप्न भार ये
पुकार के अधीर व्यग्र स्पर्श से बिखर उठे
तिमिर-विवर में पड़ी अशान्त नागिनी
छिपी हुई तृषा
अपूर्त स्वप्न-लालसा
तुरत दिखी
कि भूल-चूक ध्वंसिकी अनावृता हुई।
पुकार ने समस्त खोल दी छिपी प्रवंचना
कहा कि शुष्क है अथाह यह कुआँ
कि अन्धकार अन्तराल में लगे
महीन श्याम जाल
घृण्य कीट जो कि जोड़ते दिवाल को दिवाल से
वे अन्तराल का तला
अमानबी कठोर ईंट-पत्थरों भरा हुआ
न नीर है, न पीर है, मलीन है
सदा विशून्य शुष्क ही कुआँ रहा।
विराट् झूठ के अनन्त छन्द-सी
भयावनी अशान्त पीत धुन्ध-सी
सदा अगेय
गोपनीय द्वन्द्व-सी असंग जो अपूर्व स्वप्न-लालसा
प्रवेग में उड़े सुतीक्ष्ण बाण पर
अलक्ष्य भार सी वृथा।

जगा रही विरूप चित्र हार का
सधे हुए निजत्व की अभद्र रौद्र हार-सी।
मैं उदास हाथ में
हार की प्रतप्त रेत मल रहा
निहारता हुआ प्रचण्ड उष्ण गोल दूर के क्षितिज।
शून्य कक्ष की उदास
श्वास-हीन, पीत-वायु शान्ति में
दिवाल पर
सचेष्ट छिपकली
अजान शब्द-शब्द ज्यों करे
कि यों अपार भाव-स्वप्न भार ये
प्रशान्ति गाढ़ में
प्रशान्ति गाढ़ से

प्रगाढ़ हो
समस्त प्राण की कथा बखानते
अधीर यन्त्र वेग से अजीब एक-रूप-तान
शब्द, शब्द, शब्द में।
मुझे पुकारती हुई पुकार खो गयी कहीं।
आज भी नवीन प्रेरणा यहाँ न मर सकी
न जी सकी, परन्तु वह न डर सकी।
घनान्धकार के कठोर वक्ष
दंश-चिह्न-से
गँभीर लाल बिम्ब प्राण ज्योति के
गँभीर लाल इन्दु से
सगर्व भीम शान्ति में उठे अयास मुसकरा
घनान्धकार की भिदी परम्परा
सफेद राख के अचेत शीत
सर्व और रेंगते प्रसार में
दबी हुई अनन्त ज्योति जग उठी
मलीन मृत्यु-शीत के उदास छन्द बावरे
घनान्धाकार कर भुजंग बन्ध दीर्घ साँवरे
विनष्ट हो गये
प्रबुद्ध ज्वाल में हताश हो

विशाल भव्य वक्ष से
बही अनन्त स्नेह की महान् कृतिमयी व्यथा
बही अशान्त प्राण से महान् मानवी कथा |
किसी उजाड़ प्रान्त के
विशाल रिक्त-गर्म गुम्बजों घिरे
विहंग जो
अधीर पंख फड़फड़ा दिवाल पर
सहायहीन, बद्ध-देह, बद्ध प्राण
हार कर न हारते
अरे नवीन मार्ग पा खुला हुआ
तुरन्त उड़ गये सुनील व्योम में अधीर हो
मुझे पुकारती हुई पुकार खो गयी वहीं
सँवारती हुई मुझे
उठी सहाय प्रेरणा।
प्रभात भैरवी जगी अभी-अभी

चाँद का मुँह टेढ़ा है

नगर के बीचों-बीच
आधी रात-अँधेरे की काली स्याह
शिलाओं से बनी हुई
भीतों और अहातों के, काँच टुकड़े जमे हुये
ऊँचे-ऊँचे कन्धों पर
चाँदनी की फैली हुई सँवलायी झालरें
कारखाने-अहाते के उस पार

धूम्र-मुख चिमनियों के ऊँचे-ऊँचे
उद्गार, चिह्नाकार, मीनार
मीनारों के बीचों-बीच
चाँद का है टेढ़ा मुँह !!
भयानक स्याह सन तिरपन का चाँद वह !!
गगन में करफ्यू है
धरती पर चुपचाप जहरीली छिः थूः है !!
पीपल के खाली पड़े घोसलों में पक्षियों के

पैठे हैं खाली हुए कारतूस
गंजे सिर नगर में धीरे-धीरे धूम-धाम
नगर के कोनों के तिकोनों में छिपे हैं !!
चाँद की कनखियों की कोणगामी किरनें
पीली-पीली रोशनी की, बिछाती हैं
अँधेरे में, पट्टियाँ।
देखती हैं नगर की जिन्दगी का टूटा-फूटा
उदास प्रसार वह।
समीप विशालाकार
अँधियाले ताल पर
सूनेपन की स्याही में डूबी हुई
चाँदनी भी सँवलायी हुई है !!
भीमाकार पुलों के बहुत नीचे भयभीत।
मनुष्य-बस्ती के बियावान तटों पर
बहते हुए पथरीले नालों की धारा में
धाराशायी चाँदनी के ओठ काले पड़ गये
हरिजन-गलियों में
लटकी है पेड़ पर
कुहासे से भूतों की साँवली चूनरी—
चूनरी में अटकी है कंजी आँख गंजे सिर
टेढ़े-मुँह चाँद की।
बारह का वक्त है
भुसभुसे उजाले का फुसफुसाता षडयंत्र
शहर में चारों ओर
जमाना भी सख्त है !!
अजी, इस मोड़ पर
बरगद की घनघोर शाखाओं की गठियल
अजगरी मेहराब
मरे हुए जमानों को संगठित छायाओं में
बसी हुई
सड़ी-बुसी बास लिए
फैली है गली के
मुहाने में चुपचाप

लोगों के अरे ! आने-जाने में चुपचाप
अजगरी कमानी से गिरती है टिप-टिप

फड़फड़ाते पक्षियों की बीट
मनों समय की बीट हो !!
गगन में करफ्यू है
वृक्षों में बैठे हुए पक्षियों पर करफ्यू है
धरती पर किन्तु अजी ! जहरीली छिः थू: है।
बरगद की डाल एक
मुहाने से आगे फैल
सड़क पर बाहरी
लटकती है इस तरह
मानों कि आदमी के जनम के पहले से
पृथ्वी की छाती पर
जंगली मैमथ की सूँड़ सूँघ रही हो
हवा के जहरीले सिफरों को आज भी
घिरी हुई विपदा के घेरे-सी
बरगद की घनी-घनी छाँह में
फूटी हुई चूड़ियों की सूनी-सूनी कलाई-सी
सूनी-सूनी गलियों में
गरीबों के ठाँव में
चौराहे पर खड़े हुए
भैरों की सिन्दूरी
गेरुई मूरत के पथरीले व्यंग्य के स्मित पर
टेढ़े-मुँह चाँद की ऐयारी रोशनी
तिलिस्मी चाँद की राज-भरी झाँड़ियाँ !
तजुर्बों का ताबूत
जिन्दा यह बरगद
जनता कि भैरों यह कौन हैं !!
कि भैरों की चट्टानी पीठ पर
पैरों की मजबूत
पत्थरी-सिन्दूरी ईंट पर
भभकते वर्णों के लटकते पोस्टर
ज्वलन्त अक्षर !!

सामने है अँधियारा ताल और
स्याह उसी ताल पर
सँवलायी चाँदनी
समय का घण्टाघर
निराकार घण्टाघर
गगन में चुपचाप अनाकार खड़ा है !!
परन्तु परन्तु......बतलाते
जिन्दगी के काँटे ही
कितनी रात बीत गयी
चप्पलों की छपछप
गली के मुहाने से अजीब-सी आवाज
फुसफुसाते हुए शब्द।
जंगल की डालों से गुजरती हवाओं की सरसर

गली में ज्यों कह जाय
इशारों के आशय
हवाओं की लहरों के आकार
किन्हीं ब्रह्मराक्षसों के निराकार
अनाकार
मानों बहस छेड़ दें
बहस जैसे बढ़ जाय
निर्णय पर चली आय
वैसे शब्द बार-बार
गलियों की आत्मा में
बोलते हैं एकाएक
अँधेरे के पेट में से
ज्वालाओं की आँत बाहर निकल आय
वैसे, अरे, शब्द की धार एक
बिजली के टार्च की रोशनी की मार एक
बरगद के खुरखुरे अजगरी तने पर
फैल गयी अकस्मात
बरगद के खुरदुरे अजगरी तने पर
फैल गये हाथ दो
मानो हृदय में छिपी हुई बातों ने सहसा

अँधेरे से बाहर आ भुजाएँ पसारी हों।
फैल गये हाथ दो
चिपका गये पोस्टर
बाँके-तिरछे वर्ण और
लाल-नीले घनघोर
हड़ताली अक्षर
इन्हीं हलचलों के ही कारण तो सहसा
बरगद में पले हुये पंखों की डरी हुई
चौंकी हुई अजीब-सी गन्दी-सी फड़फड़
अँधेरे की आत्मा से करते हुये शिकायत
काँव-काँव करते हुए पक्षियों के जमघट
उड़ने लगे अकस्मात
मानो अँधेरे के
हृदय में सन्देही शंकाओं के पक्षाघात
मद्धिम चाँदनी में एकाएक-एकाएक
खपरैलों पर ठहर गयी
बिल्ली एक चुपचाप
रजनी के निजी गुप्तचरों की प्रतिनिधि
पूँछ उठाये वह
जंगली तेज
आँख
फैलाये
यमदूत-पुत्री-सी
(सभी देह स्याह, पर

पंजे सिर्फ श्वेत और
खून टपकाते हुए नाखून)
देखती है मार्जार
चिपकाता कौन है
मकानों की पीठ पर
अहातों की भीत पर
बरगद की अजगरी डालों के फन्दों पर
अँधेरे के कन्धों पर
चिपकाता कौन है?

चिपकाता कौन है ?
हड़ताली पोस्टर
बड़े-बड़े अक्षर
बांके-तिरछे वर्ण और
लम्बे-चौड़े घनघोर
लाल-नीले भयंकर
हड़ताली पोस्टर
टेढ़े-मुँह चाँद की ऐयारी रोशनी भी खूब है
मकान-मकान घुस लोहे के गजों की जाली
के झरोंखों को पारा कर
लिपे हुए कमरे में
जेल के कपड़े-सी फैली है चाँदनी
दूर-दूर काली-काली
धारियों के बड़े-बड़े चौखटों के मोटे-मोटे
कपड़े-सी फैली है
लेटी है जालीदार झरोखे से आयी हुई
जेल सझाती हुई ऐयारी रोशनी !!
अँधियाले ताल पर
काले-घिने पंखों के बार-बार
चक्करों के मँडराते विस्तार
घिना चिमगादड़-दल भटकता है चारों ओर
मानों के अहं के अवरुद्ध
अपावन अशुद्ध घेरे में हुए
नपुंसक पंखों की छटपटाती रफ्तार
घिना चिमगादड़-दल
भटकता है प्यासा-सा
बुद्धि की आँखों में
स्वार्थों के शीशे-सा !!
बरगद को किन्तु सब
पता था इतिहास
कोलतारी सड़क पर खड़े हुए सर्वोच्च
गान्धी के पुतले पर
बैठे हुए आँखों के दो चक्र

यानी कि घुग्घू एक

तिलक के पुतले पर
बैठे हुए घुग्घू
बातचीत करते हुए
कहता ही जाता है
.... मसान में ....
मैंने भी सिद्धि की।
देखो मूठ मार दी
मनुष्यों पर इस तरह.......
तिलक के पुतले पर बैठे हुए घुग्घू ने
देखा कि भयानक लाल मूँठ
काले आसमान में
तैरती-सी धीरे-धीरे जा रही
उद्गार, चिह्नाकार, विकराल
तैरता था लाल-लाल !!
देख, उसने कहा कि वाह-वाह
रात के जहाँपनाह
इसीलिए आजकल
दिन के उजाले में भी अँधेरे की साख है
रात्रि की काँखों में दबी हुई
संस्कृति-पाखी के पंख हैं सुरक्षित !!
..... पी गया आसमान
रात्रि की अँधियाली सचाइयाँ घोंट के
मनुष्यों को मारने के खूब है ये टोटके !
गगन में करफ्यू है
जमाने में जोरदार जहरीली छिः थूः है !!
सराफे में बिजली के बूदम
खम्भों पर लटके हुए मद्धिम
दिमाग में धुन्ध है
चिन्ता है सट्टे की हृदय-विनाशिनी !!
रात्रि की काली स्याह
कड़ही से अकस्मात
सड़कों पर फैल गयी

सत्यों की मिठाई की चाशनी !!
टेढ़े मुँह चाँद की ऐयारी रोशनी
भीमाकार पुलों के
ठीक नीचे बैठकर
चोरों-सी उच्चकों-सी
नालों और झरनों के तटों पर
किनारे-किनारे चल
पानी पर झुके हुए
पेड़ों के नीचे बैठ
रात-बे-रात वह
मछलियाँ फँसाती है
आवारा मछुओं-सी शोहदों-सी चाँदनी

सड़कों के पिछवाड़े
टूटे-फूटे दृश्यों में
गन्दगी के काले-से नाले के झाग पर
बदमस्त कल्पना-सी फैली थी रात-भर
सेक्स के कष्टों के कवियों के काम-सी।
किंग्सवे में मशहूर
रात की है जिन्दगी
सड़कों की श्रीमान्
भारतीय फिरंगी दूकान
सुगन्धित प्रकाश में चमचमाता ईमान
रंगीन चमकती चीजों के सुरभित
स्पर्शों में
शीशों की सुविशाल झाइयों के रमणीय
दृश्यों में
बसी थी चाँदनी
खूबसूरत अमरीकी मैगजीन-पृष्ठों-सी
खुली थी
नंगी-सी नारियों के
उघरे हुए अंगों के
विभिन्न पोजों में
लेटी थी चाँदनी

सफेद
अण्डरवीअर-सी, आधुनिक प्रतीकों में
फैली थी
चाँदनी।
करफ्यू नहीं यहाँ, पसन्दगी .... सन्दली
किंग्सवे में मशहूर रात की है जिन्दगी
अजी, यह चाँदनी सी बड़ी मसखरी है !!
तिमंजिले की एक
खिड़की में बिल्ली के सफेद धब्बे-सी
चमकती हुई वह
समेटकर हाँथ-पाँव
किसी की ताक में
बैठी हुई चुपचाप
धीरे से उतरती है
रास्तों पर, पथों पर
चढ़ती है छतों पर
गैलरी में घूम और
खपरैलों पर चढ़ कर
नीमों की शाखों के सहारे
आँगन में उतर कर
कमरों में हल्के-पाँव
देखती है, खोजती है
शहर के कोनों के तिकोनों में छिपी हुई

चाँदनी
सड़क के पेड़ों के गुम्बदों पर चढ़ कर
महल उलाँघ कर
मुहल्ले पार कर
गलियों की गुहाओं में दबे पाँव
खुफिया सुराग में
गुप्तचरी ताक में
जमी हुई खोजती है कौन वह
कन्धों पर अँधेरे के
चिपकाता कौन है

भड़कीले-पोस्टर
लम्बे-चौड़े वर्ण और
बाँके-तिरछे घनघोर
लाल-नीले अक्षर ।
कोलतारी सड़क के बीचो-बीच खड़ी हुई
गान्धी की मूर्ति पर
बैठे हुये घुग्घू ने
गाना शुरू किया
हिचकी की ताल पर
साँसों ने तब
मर जाना
शुरू किया
टेलीफोन-खम्बों पर थमें हुए तारों ने
सट्टे के ट्रंक-काल सुरों में
थर्राना और झनझनाना शुरू किया।
रात्रि का काला-स्याह
कन-टोप पहने हुए
आसमान-बाबा ने हनुमान-चालीसा
डूबी हुई बानी में गाना शुरू किया
मसान के उजाड़
पेड़ों की अँधियाली शाख पर
लाल-लाल लटके हुए
प्रकाश के चीथड़े
हिलते हुए, डुलते हुए लपट के पल्लू।
सचाई के अधजले मुरदों की चिताओं की
फटी हुई, फूटी हुई दहक में कवियों ने
बहकती कविताएँ गाना शुरू किया
संस्कृति के कुहरीले धुएँ से भूतों के
गोल-गोल मटकों से चहरों ने
नम्रता के घिघयाते स्वांग में
दुनिया को हाथ जोड़
कहना शुरू किया
बुद्ध के स्तूप में

मानव के सपने
गड़ गये, गाड़े गये !!
ईसा के पंख सब
झड़ गये, झाड़े गये !!
सत्य की
देवदासी-चोलियाँ उतारी गयीं
उघारी गयीं
सपनों की आँते सब
चीरी गयीं, फाड़ी गयीं !!
बाकी सब खोल है
जिन्दगी में झोल है !!
गलियों का सिन्दूरी विकराल
खड़ा हुआ भैरो, किन्तु
हँस पड़ा ख़तरनाक
चाँदनी के चेहरे पर
गलियों की भूरी खाक
उड़ने लगी धूल और
सँवलायी नंगी हुई चाँदनी।
और, उस अँधियाले ताल के उस पार
नगर निहारता-सा खड़ा है पहाड़ एक
लोहे की नभ-चुम्बी शिला का चबूतरा
लोहाँगी कहाता है
कि जिसके भव्य शीर्ष पर
बड़ा भारी खण्डहर
खण्डहर के ध्वंसों में बुजुर्ग दरख्त एक
जिसके घने तने पर
लिक्खी है प्रेमियों ने
अपनी याददाश्तें
लोहाँगी में हवाएँ
दरख्त में घुसकर
पत्तों से फुसफुसाती कहती हैं
नगर की व्याथाएँ
सभाओं की कथाएँ

मोर्चों की तड़प और
मकानों के मोर्चे
मीटिंगों के मर्म-राग
अँगारों से भरी हुई
प्राणों की गर्म राख
गलियों में बनी हुई छायाओं के लोक में
छायाएँ हिलीं कुछ
छायाएँ चल दी
मद्धिम चाँदनी में
भैरों के सिन्दूरी भयावने मुख पर
छायी दो छायाएँ

छरहरी झाइयाँ !!
रात्रि की थाहों में लिपटी हुई सावली तहों में
जिन्दगी की प्रश्नमयी थरथर
थरथराते बेकाबू चाँदनी के
पल्ले-सी उड़ती है गगन-कँगूरों पर।
पीपल के पत्तों के कम्प-से
चाँदनी के चमकते कम्प-से
जिन्दगी की अकुलायी थाहों के अँचल
उड़ते हैं हवा में !!
गलियों के आगे बढ़
बगल में लिये कुछ
मोटे-मोटे कागजों की घनी-घनी भोंगली
लटकाए हाथ में
डिब्बा एक टीन का
डिब्बे में धरे हुए लम्बी-सी कूँची एक
जमाना नंगे पैर
कहता मैं पेण्टर
शहर है साथ-साथ
कहता मैं कारीगर
बरगद की गोल-गोल
हड्डियों की पत्तेदार
उलझनों के ढाँचों में

लटकाओ पोस्टर
गलियों के अलमस्त
फकीरों की लहरदार
गीतों से फहराओ
चिपकाओ पोस्टर
कहता है कारीगर
मजे में आते हुए
पेण्टर ने हँसकर कहा
पोस्टर लगे हैं
कि ठीक जगह
तड़के ही मजदूर
पढ़ेंगे घूर-घूर
रास्ते में खड़े-खड़े लोक-बाग
पढ़ेंगे जिन्दगी की
झल्लायी हुई आग।
प्यारे भाई कारीगर !
अगर खींच सकूँ मैं
हड़ताली पोस्टर पढ़ते हुए
लोगों के रेखा-चित्र
बड़ा मजा आयेगा।
कत्थई खपरैलों से उठते हुए धुएँ
के रँगों में

आसमानी सियाही मिलायी जाय
सुबह की किरणों के रंगों में
रात के गृह-दीप-प्रकाश की आशाएँ घोल कर
हिम्मतें लायी जाँय
स्याहियों से आँखें बने
आँखों की पुतली में धधक की लाल-लाल
पाँख बने
एकाग्र ध्यान-भरी
आँखों की किरनें
पोस्टरों पर गिरें तब
कहो भाई कैसा हो ?

कारीगर ने साथी के कन्धे पर हाथ रख
कहा तब
मेरे भी करतब सुनो तुम
धुएँ के कजलाये
कोठे की मौत पर
बाँस की तीली की लेखनी से लिखी थी
राम-कथा व्याथा की
कि आज भी जो सत्य है
लेकिन, भाई ! कहाँ अब वक्त है
तसवीरें बनाने को
इच्छा अभी बाकी है,
जिन्दगी भूरी ही नहीं, वह बाकी है।
जमाने ने नगर के कन्धे पर हाथ रख
कह दिया साफ-साफ
पैरों के नखों से या डण्डे की नोक से
धरती की धूम में भी रेखाएँ खींच कर
तसवीरें बनती हैं
बशर्ते कि जिन्दगी के चित्र सौ
बनाने का चाव हो
श्रद्धा हो, भाव हो।
कारीगर ने हँसकर
बगल में खींच कर पेण्टर से कहा भाई !
चित्र बनाते वक्त
सब स्वार्थ त्यागे जाँय
अँधेरे से भरे हुए
जीने की सीढ़ियाँ चढ़ती-उतरती जो
अभिलाषा-अन्ध है
ऊपर के कमरे सब अपने लिए बन्द है
अपने लिये नहीं वे !!
जमाने ने नगर से यह कहा कि
गलत है यह, भ्रम है
हमारा अधिकार सम्मिलित श्रम और
छीनने का दम है।

फिलहाल तस्वीरें
इस समय हम
नहीं बना पायेंगे
अलबत्ता पोस्टर हम लगा जायेंगे।
हम धधकायेंगे
मानो या मानो मत
आज तो चन्द्र है, सविता है
पोस्टर ही कविता है !!
वेदना के रक्त से लिखे गये
लाल-लाल घनघोर
धधकते पोस्टर
गलियों के कानों में बोलते हैं
धड़कती छाती की प्यार-भरी गरमी में
भाप-बने आँसू के खूँखार अक्षर !!
चटाख-से लगी हुई
रायफली गोली के धड़ाकों से टकरा
प्रतिरोधी अक्षर
जमाने के पैगम्बर
टूटता आसमान थामते हैं कन्धों पर
हड़ताली पोस्टर
कहते हैं पोस्टर
आदमी की दर्द-भरी गहरी पुकार सुन
पड़ता है दौड़ जो
आदमी है वह खूब
जैसे तुम भी आदमी
वैसे मैं भी आदमी
बूढ़ी माँ के झुर्रीदार
चेहरे पर छाये हुए
आँखों में डूबे हुए
जिन्दगी के तजुर्बात
बोलते हैं एक साथ
जैसे तुम भी आदमी
वैसे मैं भी आदमी

चिल्लाते हैं पोस्टर।
धरती का नीला पल्ला काँपता है
यानी आसमान काँपता है
आदमी के हृदय में करुणा की रिमझिम
काली इस झड़ी में
विचारों की विक्षोभी तड़ित कराहती
क्रोध की गुहाओं का मुँह खोले
शक्ति के पहाड़ दहाड़ते
काली इस झड़ी में वेदना की तड़ित कराहती
मदद के लिये अब

करुणा के रोंगटों में सन्नाटा
दौड़ पड़ता आदमी
व आदमी के दौड़ने के साथ-साथ
दौड़ता जहान
और दौड़ पड़ता आसमान !!
मुहल्ले के मुहाने के उस पार
बहस छिड़ी हुई है
पोस्टर पहने हुए
बरगद की शाखें ढीठ
पोस्टर धारण किये
भैरो की कड़ी पीठ
भैरो और बरगद में बहस खड़ी हुई है
जोरदार जिरह कि कितना समय लगेगा
सुबह होगी कब और
मुश्किल होगी दूर कब
समय का कण-कण
गगन की कालिमा से
बूँद-बूँद चू रहा
तड़ित-उजाला बन !!

❖

भवानीप्रसाद मिश्र

जन्म 1914 ई. में होशंगाबाद (मध्य प्रदेश) में हुआ। बी.ए. तक शिक्षा प्राप्त की सन् 42 के आन्दोलन में भाग लेने कारण कारावास दण्ड भी भुगतना पड़ा। वर्धा के महिला आश्रम में कुछ समय तक अध्ययन किया। हैदराबाद में भी कुछ वर्षों तक तक 'कल्पना' के सम्पादक-मण्डल के एक सदस्य रहे | आकाशवाणी के बम्बई केन्द्र में हिन्दी-विभाग के प्रधान पद पर भी कार्य कर चुके हैं | विगत कई वर्षों से सम्पूर्ण गाँधी-वांगमय का सम्पादन करते रहे हैं | और अब वर्धा में आश्रम-जीवन व्यतीत करने की ओर प्रवृत्त हैं |

भवानीप्रसाद मिश्र गाँधीवादी विचार-धारा के कवि हैं | अद्वैत दर्शन उन्हें प्रिय है | आपने कवि जीवन का आरम्भ 16 वर्ष की अवस्था में किया | सहज बोलचाल की भाषा में प्रवाहमय रचना करने के कारण भवानीप्रसाद मिश्र अत्यन्त लोकप्रिय हुए | वे सामाजिक भाव-बोध के निश्छल कवि होने के कारण बौद्धिक तथा साधारण पाठकों में समान रूप से प्रशंसित हैं | भवानीप्रसाद मिश्र की काव्य-भाषा की सादगी और ताज़गी असाधरण दिखाई देती है | यद्यपि भवानीप्रसाद मिश्र ने मुक्त-व्रत्त में कविताएँ लिखी हैं लेकिन वे तुकाग्रह से मुक्त नहीं हो पाए हैं | इनकी कविताओं की बुनावट सूक्ति-प्रधान होती है और उनका उतार-चढ़ाव ऐसी नाटकीयता लिए रहता है जो उनके काव्य-पाठ से उजागर हो जाती है | अनेक कवियों की अपेक्षा उनका संवेदनात्मक धरातल अधिक व्यापक मानवीय तथा उदार है | उसमें आवेग की मात्रा भी विशेष दिखायी देती है | बोलचाल के लहजे में बड़ी-से-बड़ी बात कह जाने की चेष्टा कवि की रचना-प्रक्रिया का प्रमुख रूप प्रतीत होता है | बड़ी कविताओं के साथ-साथ उन्होंने बहुत सी छोटी कविताएँ भी लिखी हैं | समग्रतः उनका काव्य-रूप उन्मुक्त होने के साथ-साथ अनिश्चित भी है | 'न निरापद कोई नहीं है, ठीक आदमकद कोई नहीं है' – यह अनुभूति गाँधीवादी दर्शन से गहरा सम्पर्क रखने के बाद भी कवि को हुई, यह बात ध्यान देने योग्य है | कविता की समस्याओं एवं शैली-शिल्प के प्रति वे पर्याप्त सजगता रखते हैं | हिन्दी के वे ऐसे नये कवि हैं जिन्हें मंच-सिद्धि भी प्राप्त हुई है | अपने देश, समाज और युग के पर्ति कविरूप में वे अपने उत्तरदायित्व से परिचितहैं | अति सरलीकरण के कारण कहीं-

कहीं उनकी अनुभूति सपाट भी हो गयी है, लेकिन इतना निःसन्देह कहा जा सकता है कि उन्होंने आधुनिक हिन्दी काव्य-भाषा को एक नया मुहावरा दिया है |

20 फरवरी सन 1985 को हृदय गति रुक जाने से मिश्र जी का देहावसान हुआ |

प्रकाशित कृतियाँ— 'दूसरासप्तक' में संकलित कविताएँ | गीत फरोश (1956), चकित हैं दुःख (1968), अँधेरी कविताएँ (1971), बुनी हुई रस्सी, गाँधी पंचशती, व्यक्तिगत, खुशबू के शिलालेख, परिवर्तन जिए, त्रिकाल संध्या, अनाम तुम आते हो, इदं न मम् शरीर कविता, फसलें और फूल, मान सरोवर दिन, संप्रति; नीली रेखा के पास तक, कालजयी (प्रबांध काव्य), तुकों का खेल (बाल साहित्य), जिन्होंने मुझे रचा (संस्मरण), कुछ नीति कुछ राजनीति (निबन्ध)

❖

श्रव्य-हव्य

सुनायें ?
भवानीप्रसाद मिश्र की कविताएँ ?
नहीं;
यह झंझट और कहीं।
हमें तो तुम संग्रह दे दो
पढ़ लेंगे
छपी हुई चीज
हिमालय भी हो
तो
हम चढ़ लेंगे।
मगर भाई,
ये पठ्य उतनी नहीं हैं
जितनी श्रव्य हैं।
तो भाड़ में डालो उन्हें;
अर्थात् जो पठ्य उतनी नहीं हैं
वे चाहे जितनी श्रव्य हो
हमारे लेखे हव्य हैं।

निरापद कोई नहीं है

निरापद कोई नहीं है
न तुम, न मैं, न वे
न वे, न मैं, न तुम !
सबके पीछे बँधी है दुम आसक्ति की !
आसक्ति के आनन्द का छन्द ही ऐसा है
इसकी दुम पर
पैसा है !

ना, निरापद कोई नहीं है
ठीक आदमक़द कोई नहीं है।
न तुम, न मैं, न वे
न वे, न मैं, न तुम
कोई है, कोई है, कोई है?
जिसकी जिन्दगी
दूध की धोई है?
दूध किसी का धोबी नहीं है !

हो तो भी नहीं है।

सूरज के खिलाफ

मैं उदास हूँ
तुमने बिछा दिया है नाहक मेरे आगे
नया सबेरा दूर-दूर तक !
मेरे माथे की रग
केवल तड़क रही है
सौ मन वजन बँधा है जैसा
मेरे सिर पर !
सिर भारी है
आँख बन्द है
मैं उदास हूँ।
जैसे-जैसे धूप चढ़ेगी
सिर तड़केगा ज्यादा-ज्यादा
तुमने नाहक
बिछा दिया
यह नया सबेरा
दूर-दूर तक !

पाँव और पंख

बहुत वजन हो गया हो तो थोडे झुक जाओ
मगर घबड़ा के नहीं समझ के साथ

अपने को सौंप न दो वक्त के हाथ
क्योंकि वक्त तो किसी का हाथ नहीं पकड़ता
उड़ चलता है वह
न वह शीत में ठिठुरता है,
न गर्मी में जलता है वह
पथ चिह्न-हीन आकाश में
ऊपर-नीचे
गोल या
लहरदार
साध के एक छन्द
उड़ता रहता है !
न वह अच्छा है न बुरा
न वह कोमल है न सख्त
वह है सिर्फ शुद्ध वक्त !
वह न हमारे साथ है
न हमारे खिलाफ
जिससे यह समझ लिया है
अँधेरे-उजेले को ठीक जिया है,
वह निश्शंक है
फिर

भले ही क्षण के पंख है
और हमारे पाँव !
पाँव हमारे बलशाली हैं
अगर जरूरत पड़ ही जाये
तो पंखवालों को हम पकड़ सकते हैं
पाल सकते हैं
उनकी उड़ानों को अपनी जरूरत में
ढाल सकते हैं
हमारे पाँव हैं
और समय के पंख हैं
इसलिये हम निश्शंक हैं !

अभिव्यक्ति

अभिव्यक्ति तो होती ही रहती है
मैं उसके ढंग से नहीं सोचता
सोची हुई अभिव्यक्ति से
मैंने अपने को कभी व्यक्त नहीं किया
छुपता ही हूँ मैं उससे
अभिव्यक्ति तो होती ही रहती है
मैं उसके ढंग नहीं सोचता
सोच कर नहीं रोया मेरा लड़का
और रोने से उसे अभिव्यक्त किया
तौल कर नहीं हँसी मेरी लड़की
और हसने ने उसे अभिव्यक्त किया
तुमने जमुहाई ली
सोच कर ली थी ?
नहीं; इसीलिए उसने तुम्हारी
समूची थकान को खोला
मछली को पकड़ो
तो वह पानी के लिए तड़पती है।
हम आफत में पड़ जायें
तो एक-दूसरे से सलाह लेते हैं
शेर गोली खा के
चट्टानों को चबा जाता है !
अभिव्यक्ति तो
होती ही रहती है
मैं उसके ढंग नहीं सोचता !
पहाड़ के ढलान पर
किसी ने मुझे धक्का दे दिया
और मेरी जिन्दगी ही बदल गई
मेरी टाँग टूट गई
और अब मैं लँगड़ा कर चलने लगा हूँ
अभिव्यक्ति अब
थोड़ी कोशिश से हुआ करेगी

मगर मैं
उस कोशिश का
ढंग नहीं सोचता।
अभिव्यक्ति तो होती ही रहती है।

सन्नाटा

तो पहले अपना नाम बता दूँ तुमको
फिर चुपके-चुपके धाम बता दूँ तुमको
तुम चौंक नहीं पड़ना, यदि धीमे-धीमे
मैं अपना कोई काम बता दूँ तुमको।
कुछ लोग भ्रांतिवश मुझे शान्ति कहते हैं
निस्तब्ध बताते हैं, कुछ चुप रहते हैं
मैं शान्त नहीं, निस्तब्ध नहीं, फिर क्या हूँ ?
मैं मौन नहीं हूँ, मुझसे स्वर बहते हैं,
कभी-कभी कुछ मुझमें चल जाता है,
कभी-कभी कुछ मुझमें जल जाता है,
जो चलता है वह शायद है मेंढ़क हो
वह जुगनू है, जो तुमको छल जाता है।
मैं सन्नाटा हूँ, फिर भी बोल रहा हूँ
मैं शांत बहुत हूँ, फिर भी बोल रहा हूँ
यह 'सर-सर' यह 'खड़-खड़' सब मेरी है
है यह रहस्य मैं इसको खोल रहा हूँ।
मैं सूने में रहता हूँ, ऐसा सूना
जहाँ घास उगा रहता है ऊना
और झाड़ कुछ इमली के, पीपल के
अन्धकार जिनसे होता है दूना।
तुम देख रहे हो मुझको, जहाँ खड़ा हूँ ?
तुम देख रहे हो मुझको जहाँ पड़ा हूँ ?
मैं ऐसे ही खण्डहर चुनता फिरता हूँ,
मैं ऐसे ही जगहों में पला, बढ़ा हूँ।
हाँ, यहाँ किले की दीवारों के ऊपर,
नीचे तलधर में या समतल पर, भू पर
कुछ जन-श्रुतियों का पहरा यहाँ लगा है

जो मुझे भयानक कर देती है छू कर |
तुम डरो नहीं, डर वैसे कहाँ नहीं है !
पर खास बात डर की कुछ यहाँ नहीं है
बस एक बात है, वह केवल ऐसी है
कुछ लोग यहाँ थे, अब मै यहाँ नहीं हैं ।
यहाँ बहुत दिन हुए एक थी रानी
इतिहास बताता उसकी नहीं कहानी
वह किसी एक पागल पर जान दिये थी
थी उसकी केवल एक नहीं नादानी ।
यह घाट नदी का, अब जो टूट गया है

वह घाट नदी का, अब जो फूट गया है
वह यहाँ बैठ कर रोज-रोज गाता था
अब यहाँ बैठना उसका छूट गया है
शाम हुए रानी खिड़की पर आती
थी पागल के गीतों को वह दुहराती
तब पागल आता और बजाता बंसी
रानी उसकी बंसी पर छुप कर गाती
किसी एक दिन राजा ने यह देखा
खिंच गयी हृदय पर उसके दुख की रेखा
वह भरा क्रोध में आया औ रानी से
उसने माँगा इन सब साँझों का लेखा ।
रानी बोली पागल को जरा बुला दो
मैं पागल हूँ, राजा, तुम मुझे भुला दो
मैं बहुत दिनों से जाग रहीं हूँ राजा !
बंसी बजवा कर मुझको जरा सुला दो।
वह राजा था हाँ, कोई खेल नहीं था
ऐसे जवाब से उसका मेल नहीं था
रानी ऐसे बोली थी, जैसे उसके
इस बड़े किले में कोई खेल नहीं था।
तुम जहाँ खड़े हो, यहीं कभी सूली थी
रानी की कोमल देह यही झूली थी
हाँ पागल को भी नहीं, यही रानी की,
राजा हँस कर बोला, रानी भूली थी |

किन्तु नहीं फिर राजा ने सुख जाना
हर जगह गूँजता था पागल का गाना
बीच-बीच मे, राजा तुम भूले थे
रानी का हँस कर सुन पड़ता था ताना ।
तब और बरस बीते, राजा भी बीते
रह गये किले के कमरे-कमरे रीते
तब मैं आया, कुछ मेरे साथी आये
अब हम सब मिल करते हैं मनचीते ।
पर कभी-कभी जब पागल आ जाता है
लाता है रानी को, या गा जाता है
तब मेरे उल्लू, साँप और गिरगिट पर
अनजान एक सकता-सा छा जाता है ।

सतपुड़ा के जंगल

सतपुड़ा के घने जंगल
नींद में डूबे हुए-से
ऊँघते अनमने जंगल।
झाड़, ऊँचे और नीचे

चुप खड़े हैं आँख मीचे
घास चुप है, कास चुप है
मूक शाल, पलाश चुप है
बन सके तो धँसो इनमें
धँस न पाती हवा जिनमें
सतपुड़ा के घने जंगल
नींद में डूबे हुए-से
ऊँघते, अनमने जंगल ।
सड़े-पत्ते, गले पत्ते
हरे पत्ते, जले पत्ते
वन्य को पथ ढँक रहे-सा
पंक-दल में पले पत्ते
चलो इन पर चल सकी तो
दलो इनको दल सको तो

ये घिनौंने-घने जंगल
नींद में डूबे हुए-से
ऊँघते, अनमने जंगल
अटपटी उलझी लताएँ
डालियों को खींच खाएँ
पैर को पकड़े अचानक
प्राण को कस लें कँपाएँ
साँप-सी काली लताएँ
बला की पाली लताएँ
लताओं के बने जंगल
नींद में डूबे हुए-से
ऊँघते, अनमने जंगल।
मकड़ियों के जाल मुँह पर
और सिर के बाल मुँह पर
मच्छरों के दंश वाले
दाग-काले, लाल मुँह पर
बात-झंझा वहन करते
चलो इतना सहन करते
कष्ट से ये सने जंगल
नींद में डूबे हुए-से
उँधते, अनमने जंगल।
अजगरों से भरे जंगल
अगम, गति से परे जंगल
सात-सात पहाड़ वाले
बड़े-छोटे झाड़ वाले
शेर वाले बाघ वाले
गरज और पहाड़ वाले
कंप से कनकने जंगल
नींद में डूबे हुए-से
ऊँघते, अनमने जंगल ।

इन वनों के खूब भीतर
चार मुर्गे, चार तीतर
पाल कर निश्चित बैठे

विजन वन के बीच बैठे
झोपड़ी पर फूस डाले
गोंड तगड़े और काले
जब कि होली पास आती
सरसराती घास गाती
और महुए से लपकती
मत्त करती बास आती
गूँज उठते ढोल इनके।
सतपुड़ा के घने जंगल
नींद में डूबे हुए-से
ऊँघते अनमने जंगल।
जागते अँगड़ाइयों में
खोह-खड्डों-खाइयों में
घास पागल, कास पागल
शाल और पलाश, पागल
लता पागल, वात पागल
डाल पागल, पात पागल
मत्त मुर्गे और तीतर
इन वनों के खूब भीतर |
क्षितिज तक फैला हुआ-सा
मृत्यु तक मैला हुआ-सा
क्षुब्ध काली लहर वाला
मथित, उत्थित जहर वाला
मेरु वाला, शेष वाला
शंभु और सुरेश वाला
एक सागर जानते हों ?
उसे कैसा मानते हो ?
ठीक वैसे घने जंगल
नींद में डूबे हुए-से
ऊँघते अनमने जंगल।
धँसों इनमें डर नहीं है
मौत का यह घर नहीं है

उतर कर बहते अनेकों
कल-कथा कहते अनेकों,
नदी निर्झर और नाले
इन वनों ने गोद पाले
लाख पंछी, सौ किरन-दल
चाँद के कितने हिरन-दल
झूमते वन-फूल, फलियाँ
खिल रही अज्ञात कलियाँ

हरित दूर्वा, रक्त किसलय
पूत, पावन, पूर्ण रसमय
सतपुड़ा के घने जंगल
लताओं के बने जंगल ।

सुख का दुःख

अगर उजाले से मेरी पहचान न होती
सप्त किरन, तुम अगर न उतरे होते दो पल
इस आँगन में
तो जीवन भर सुख ही सुख था
भान दुःख का तुमको खोकर हुआ
तुम्हारी छवि ने ऐसा छुआ
बरसते इस जीवन को
जैसे सावन की संध्या पर
जाते-जाते रवि किरनें
सज जायें इन्द्र धनु !
अतनु दुःख ने
रूप धर लिया उसी दिवस से
और नहीं तो सब अच्छा था !
अब अच्छे की माँग
इन्द्र धनु ही भर सकता
यह विडम्बना कौन कहे श्रेयस् ही ठहरे
क्योंकि दुःख भीतर जाते हैं गहरे-गहरे
जितना गहरा कूप खुदे,

उतना मीठा जल
आज नहीं कल

ऐसा भी होगा

इच्छाएँ उमड़ती हैं
तो थक जाता हूँ
कभी एकाध इच्छा
थोड़ा चल कर
तुम्हारे सिरहाने रख जाता हूँ
जब तुम्हारी आँख
खुलती है
तो तुम उसे देख कर
सोचती हो
यह कोई चीज
तुम्हारी इच्छा से
मिलती-जुलती हैं
कभी ऐसा भी होगा
जब मेरी क्लान्ति कोई भी इच्छा
तुम्हारे सिरहाने तक रखने

नहीं जायेगी
तब
वहाँ के खालीपन
को देख कर
शायद तुम्हें याद आयेगी
अपनी इच्छा से मिलती-जुलती मेरी किसी इच्छा की

इसे जगाओ

भई, सूरज
जरा इस आदमी को जगाओ,
भई, पवन
जरा इस आदमी को हिलाओ !
यह आदमी जो सोया पड़ा है

जो सच से बेखबर
सपनों में खोया पड़ा है !
भई पंक्षी,
इसके कानों पर चिल्लाओ !
भई सूरज ! जरा इस आदमी को जगाओ
वक्त पर जगाओ,
नहीं तो जब बेवक्त जागेगा यह
तो जो आगे निकल गये हैं
उन्हें पाने
घबरा के भागेगा यह !
घबरा के भागना अलग है
क्षिप्र गति अलग है
विप्र तो वह है
जो सही क्षण में सजग है !
सूरज, इसे जगाओ,
पवन, इसे हिलाओ,
पंक्षी उसके कानों पर चिल्लाओ !

कठपुतली

कठपुतली
गुस्से से उबली
बोली—ये धागे
क्यों है मेरे पीछे-आगे !
इन्हें तोड़ दो;
मुझे मेरे पावों पर छोड़ दो |
सुन कर बोलो और-और
कठपुतलियाँ
कि हाँ
बहुत दिन हुए
हमें अपने मन के छंद छुए |

मगर.........?
पहली कठपुतली सोचने लगी

यह कैसी इच्छा
मेरी मन में जगी ?

मौसम निकल गया

बहुत लम्बे अरसे तक
बीनता रह काँटे
जो आये थे दूसरों के बाँटे
यह सोचकर
कि करणीय यही है !
सोचता था
कि इन्हें गीत में गूँथूँगा
तो फूल हो जायेंगे ये
उनके लिए
और मेरे लिए
और सबके लिए !
मगर बीनते-बीनते उन्हें
गीतों बुनने का मौसम निकल गया
और काँटे जो आये थे दूसरों के बाँटे
काँटे ही रह गये
उनके लिए
और मेरे लिए
और सबके लिए ?

गीत फरोश

जी हाँ हुजूर, मैं गीत बेचता हूँ।
मैं तरह-तरह के
गीत बेचता हूँ;
मैं सभी किसिम के गीत
बेंचता हूँ
जी माल देखिये दाम बताऊँगा,
बेकाम नहीं है, काम बताऊँगा;

कुछ गीत लिखे हैं मस्ती में मैने,
कुछ गीत लिखे हैं मस्ती में मैने,
यह गीत, सख्त सरदर्द भुलायेगा।
जी पहले कुछ दिन शर्म लगी मुझको
पर पीछे-पीछे अक्ल जगी मुझको;
जी, लोगों ने तो बेच दिये ईमान ।
जी, आप न हों सुनकर ज्यादा हैरान ।
मैं सोच-समझ कर आखिर
अपने गीत बेचता हूँ;

जी हाँ, हुजूर मैं गीत बेचता हूँ।
यह गीत सुबह का है, जाकर देखें;
यह गीत गजब का है, ढाकर देखें;
यह गीत जरा सूने में लिक्खा था,
यह गीत वहाँ पूने में लिक्खा था |
यह गीत पहाड़ी पर चढ़ जाता है;
यह गीत बढ़ाये से बढ़ जाता है,
यह गीत भूख और प्यास भगाता है;
जी, यह मसान में भूत जगाता है;
यह गीत भुवाली की है हवा हुजूर
यह गीत तपैदिक की है दवा, हुजूर
मैं सीधे-साधे और अटपटे,
गीत बेचता हूँ;

जी हाँ, हुजूर, मैं गीत बेचता हूँ।
जी, और गीत भी हैं, दिखलाता हूँ;
जी, सुनना चाहें आप तो गाता हूँ;
जी, छन्द और बे-छन्द पसन्द करे—
जी, अमर गीत ओर वे जो तुरत मरें।
ना बुरा मानने की इसमें क्या बात,
मैं पास रखे हूँ कलम और दावात.....

इनमें से भाये नहीं, नये लिख दूँ ?
जो नये चाहिए नहीं, गये लिख दूँ।
इन दिनों कि दुहरा है कवि-धन्धा;
है दोंनों चीजें व्यस्त, कमल, कन्धा |

कुछ घन्टे लिखने के, कुछ फेरी के
जो दाम नहीं लूँगा इस देरी के
मैं नये पुराने सभी तरह के
गीत बेचता हूँ।
जी हाँ हुजूर मैं गीत बेचता हूँ।
जी गीत जनम का लिखूँ, मरन का लिखूँ;
जी, गीत जीत का लिखूँ, शरन का लिखूँ;
यह गीत रेशमी है, या खादी का,
यह गीत पित्त का है, या बादी का।
कुछ और डिजाइन भी है, ये इल्मी—
यही लीजे चलती चीज नयी, फिल्मी।
यह सोच-सोच कर मर जाने का गीत,
यह दुकान से घर जाने का गीत,
जी नहीं, दिल्लगी की इसमें क्या बात ?
मैं लिखता ही तो रहता हूँ दिन-रात।
तो तरह-तरह के बन जाते हैं गीत।
जो रूठ-रूठ कर मन जाते हैं गीत।

जी बहुत ढेर लग गया हटाता हूँ,
गाहक की मर्जी-अच्छा जाता हूँ।
मैं बिल्कुल अन्तिम ओर दिखाता हूँ—
या भीतर जाकर पूछ आइए, आप।
है गीत बेचना वैसे बिल्कुल पाप;
क्या करूँ मगर लाचार हार कर
गीत बेचता हूँ।
जी हां, हुजूर मैं गीत बेचता हूँ।

तटस्थ दर्शन

शाम के धुँधलके में,
मैंने देखा
झाँक कर अपने भीतर
तो मैं दंग रह गया
कि अरे,

टटके टेसू का
भर-वसंत में
यह रंग रह गया।
अँधेरा थिरते-थिरते
तय हो गया
कि घड़ियाँ अब नहीं बीतेंगी
यों, तन के विरते
सहारे अवान्त खोजने पड़ेंगे
मन के भी वन-प्रान्तर
छोड़ने पड़ेंगे
भटकता होगा मन के हरे-भरे वन को छोड़कर
बुद्धि के रूखे मैदानों तक
तन से मन तक
मन से बुद्धि तक
बुद्धि से प्राणों तक
और जब रात घनी बनी
तारों की किरन-किरन
प्राणों के लिए
हीरे की कनी बनी !
तब, अब प्राण अपने से बड़ी
कोई शक्ति चाहता है !
घने अँधेरे में देखें
अस्तित्व
अपने को
किस हद तक निबाहता है !

कृष्ण राधे

कौए और कछुए

जो होते मछुए
तो क्या होता ?
मछलियाँ इतनी न पकड़ी जातीं
और जितनी पकड़ी जातीं

कवितान्तर (कविता-खंड) पृष्ठ-77

उनमें में बाजार में बिकने
एक भी न आतीं
कौए अपने खाने-भर को पकड़ते
और कछुए ? वे थोड़ी देर
झक मारते और चले जाते अपने घर को
यानि वहीं कहीं पानी में,
क्या फर्क करे कोल्हू और धानी में
एक तेल निकालता है
दूसरा चूना पीसता है
बैल दोनों को घसीटता है
आँखों पर पट्टी बाँधे ।
कृष्ण राधे !! कृष्ण राधे !!

तीर्थ यात्री

मुझ पर प्रभु, कृपा करो ऐसी
जब मृत्यु-दिवस का सूर्य
छुए आकर मुझको
मैं हाथ हिला कर
किसी विदाई के क्षण में
दो मित्र विदा होते हैं ज्यों—
ऐसे चल दूँ
मैं हर पीछे आने वाले को
यों बल दूँ
मानों यह तीर्थ यात्रा हैं !
मुझ पर प्रभु करो कृपा ऐसी
मैं तीर्थ-यात्री का उत्साह
निबाह सकूँ;
गम्भीर उदधि को जीवन के
मैं मृत्यु क्षणों में थाह सकूँ !

कवितान्तर (कविता-खंड) पृष्ठ-78

❖

डॉ. धर्मवीर भारती

मूलतः शाहजहाँपुर से सम्बद्ध एक कायस्थ-परिवार में दिसम्बर सन् 1926 में इलाहाबाद में जन्म हुआ | 10-11 वर्ष की उम्र में ही पिता का निधन हो गया | मामा के संरक्षण में पले-पुसे 1947 में प्रयाग विश्वविद्यालय से हिन्दी साहित्य में एम.ए. किया | इसके उपरान्त 'सिद्ध साहित्य' शोध प्रबन्ध पर वहीं से डी.फिल् की उपाधि ग्रहण की | प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में वर्षों प्राध्यापन किया |

लेखन-कार्य का आरम्भ बी.ए. कक्षाओं से ही प्रारम्भ हो चुका था | पत्रकारिता की ओर झुकाव होने के कारण 'संगम'साहित्य में श्री इलाचन्द्र जोशी के सहायक के रूप में इन्होंने कार्य किया । फिर लक्ष्मीकान्त वर्मा का सहयोग लेकर इलाहाबाद से 'निकष' के तीन अंक निकाले जिनमें समसामयिक साहित्य की सभी प्रमुख विधाओं को गति देने की भावना

निहित थी। तदनन्तर रघुवंश, साही आदि के साथ मिलकर 'आलोचना' त्रैमासिक का सम्पादन भार सँभाला और साहित्य के मान मूल्यों को लेकर कई बहसों का सूत्रपात किया।

उन्होंने 'परिमल' संस्था के सदस्य एवं संयोजक-रूप में साहित्यिक गोष्ठियों में भी अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। वे इसके एक संस्थापक सदस्य भी थे। सन 1961 से नवम्बर 1987 तक साप्ताहिक 'धर्मयुग' के सम्पदन में व्यस्त रहे। उनकी प्रायः सभी प्रसिद्ध मौलिक रचनाएँ उनके पत्रकार जीवन के पूर्व की हैं और प्रयाग में लिखी गयी हैं।

धर्मवीर भारती के आरम्भिक लेखन का मुख्य स्वर गहरा रोमानी है जो उनके परवर्ती साहित्य में भी कमोवेश विद्यमान है। प्रेम के विविध रूपों का जीवन्त तथा आवेगमय चित्रण भारती की रचनाओं में मिलता है। इनकी यथाअर्थ जीवन दृष्टि से प्रेरित रचनायें भी रोमानी अनुभूतियों से मुक्त नहीं हैं। लेकिन इनकाअ रोमान, छायावादी रोमान से भिन्न, जीवन की सहज अनिवार्यता के रूप में अंगीकृत हुआ है। भारती की काव्य-कृतियों में 'अंधायुग' और 'कनुप्रिया' विशिष्ठ मानी गयी हैं। 'अंधायुग' युग की कठोर भूमि में कृष्ण को नये रूप में प्रस्तुत करता है। इसके विपरीत 'कनुप्रिया' में उनके कोमल मानवीय रूप के साथ राधा की उदात्त समर्पणमयी वृत्ति का तलस्पर्शी अंकन हुआ

है और एक बिन्दु पर दोनों काव्य एक दूसरे के पूरक दिखाई देते हैं। भारती की शैलीगत मौलिकता, नवीन उद्भावना शक्ति और भाषा के जीवन्त प्रयोग प्रायः उनकी सभी कृतियों में ध्यान आकर्षित करते हैं और स्वतंत्र व्यक्तित्व निजी ढंग से पाठक को प्रभावित करता है। 'गुनाहों का देवता' उनका बहुचर्चित उपन्यास है जो उनके परवर्ती उपन्यास 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' से भी अधिक लोकप्रिय हुआ। उनकी कहानियों तथा नाटकों में काव्यतत्व की प्रधानता यह प्रमाणित करती है कि वे मूलतः कवि हैं।

प्रकाशित कृतियाँ

कविताएँ— दूसरा सप्तक (1951) में संकलित कविताएँ, ठण्डा लोहा (1952), अंधायुग (काव्य-नाट्य) (1955), सात गीत वर्ष (1959), कनुप्रिया (खण्ड काव्य) (1959), देशान्तर (विदेशी कविताओं का अनुवाद) (1960)।

नाटक— नदी प्यासी थी

एकांकी संग्रह— नीली झील

उपन्यास— गुनाहों का देवता, सूरज का सातवाँ घोड़ा।

कहानियाँ—आस्कर वाइल्ड की कहानियाँ, बन्द गली का आखिरी मकान।

निबन्ध— चाँद और टूटे हुए लोग, प्रगतिवाद-एक समीक्षा, ठेले पर हिमालय, मानव-मूल्य और साहित्य, कहनी अनकहनी पश्यन्ती।

आलोचना—सिद्ध साहित्य मानव मूल्य और साहित्य

❖

टूटा पहिया

मैं
रथ का टूटा हुआ पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत।
क्या जाने कब
इस दुरूह चक्रव्यूह में
अक्षोहिणी सेनाओं को चुनौती देता हुआ
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाय।
अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी
बड़े-बड़े महारथी
अकेली-निहत्थी आवाज को
अपने ब्रह्मास्त्रों से कुचल देना चाहें

तब मैं
रथ का टूटा हुआ पहिया
उसके हाथों में
ब्रह्मास्त्रों से लोहा ले सकता हूँ।
मैं रथ का टूटा हुआ पहिया हूँ।
लेकिन मुझे फेंको मत
इतिहासों की सामूहिक गति
सहसा झूठी पड़ जाने पर
क्या जानें
सच्चाई टूटे हुए पहियों का आश्रय ले।

ठण्डा लोहा

ठण्डा लोहा ! ठण्डा लोहा ! ठण्डा लोहा !
मेरी दुखती हुई रगों पर ठण्डा लोहा !
मेरी स्वप्न भरी पलकों पर

मेरे गीत भरे होंठों पर
मेरी दर्द भरी आत्मा पर
स्वप्न नहीं अब
गीत नहीं अब
दर्द नहीं अब—
एक पर्त ठण्डे लोहे की !
मैं जम कर लोहा बन जाऊँ—
हार मान लूँ—
यही शर्त ठण्डे लोहे की !
ओ मेरी आत्मा की संगिनि !
तुम्हें समर्पित मेरी साँस-साँस थी लेकिन
मेरी साँसों में यम के तीखे नेजे-सा
कौन अड़ा है ?
ठण्डा लोहा !
मेरे और तुम्हारे सारे भोले निश्छल विश्वासों को
आज कुचलने कौन खड़ा है ?
ठण्डा लोहा !
फूलों से, सपनों से, आँसू और प्यास से
कौन बड़ा है ?
ठण्डा लोहा !
ओ मेरी आत्मा की संगिनि !
अगर जिन्दगी की कारा में,
कभी छटपटाकर मुझको आवाज लगाओ
और न कोई उत्तर पाओ
यही समझना कोई इसको धीरे-धीरे निगल चुका है,
इस बस्ती में कोई दीपा जलाने वाला नहीं बचा है,
सूरज और सितारे ठण्डे
राहें सूनी
विवश हवायें

शीश झुकाए
खड़ी मौन है
बचा कौन है ?
ठण्डा लोहा ! ठण्डा लोहा ! ठण्डा लोहा !

गैरिक वाणी

मेरी वाणी
गैरिक वासना
भूल गयी गोरे अंगो को
फूलों के वसनों में कसना
गैरिक वसना
मेरी वाणी।
अब विरागिनी
मेरा निज दुख, मेरा निज सुख
दोनों से तटस्थ रागिनि
अब विरागिनी
मेरी वाणी।
चन्दन-शीतल
पीड़ा से परिशोधित स्वर में
उभरा एक नवीन धरातल
चन्दन शीतल
मेरी वाणी।
भटके हुए व्यक्ति का संशय
इतिहासों का अन्धा निश्चय
ये दोनों जिसमें पा आश्रय
बन जायेंगे सार्थक समतल
ऐसे किसी अनागत पथ का
पावन माध्यम भर है
मेरी आकुल प्रतिभा
अर्पित रसना
गैरिक वासना
मेरी वाणी
जल-सी निर्मल
मणि से उज्जवल
नवल, स्नात
हिम धवल
ऋतु

तरल
मेरी वाणी |

इनका अर्थ

ये शामें, ये सब सब की शामें.........
जिनमें मैनें घबरा कर तुमको याद किया

जिनमें स्यासी सीपी-सा भटका विकल हिया
जाने किस आने वाले की प्रत्याशा में
ये शामें
इनका क्या कोई भी
अर्थ नहीं ?
ये लमहे, ये सारे सूनेपन के लमहे
जब मैने अपनी परछाहीं से बातें कीं
दूख से वे सारी टूटी वीणाएँ फेंकी
जिनमें अब कोई भी स्वर न रहे
ये लमहे,
इनका क्या कोई भी
अर्थ नहीं ?
ये घड़ियाँ—ये बेहद भारी-भारी घड़ियाँ
जब मुझको फिर यह एहसास हुआ
अर्पित होने के अतिरिक्त और राह नहीं
जब मैने झुककर फिर माथे से पंथ छुआ
फिर बीनी-गत-पग-नूपर से बिखरी मणियाँ
ये घड़ियाँ
इनका क्या कोई भी
अर्थ नहीं ?
ये घड़ियाँ, ये शामें, ये लमहे
जो मन पर कोहरे से जमे रहे
निर्मित होने के क्रम में
क्या
इनका कोई भी अर्थ नहीं ?
जाने क्यों कोई मुझसे कहता

मन में कुछ ऐसा भी है रहता
जिसको छू लेने वाली कोई भी पीड़ा
जीवन में फिर जाती व्यर्थ नहीं !
अर्पित है पूजा के फूलों-सा जिसका मन
अनजाने दुख कर जाता उसका परिमार्जन
अपने से बाहर की व्यापक सच्चाई को
नतमस्तक होकर कह कर लेता सहज ग्रहण
ये सब बन जाते पूजागीतों की कड़ियाँ
यह पीड़ा, यह कुण्ठा, ये शामें, ये घड़ियाँ
इनमें से क्या है
जिसका कोई अर्थ नहीं ?
कुछ भी तो व्यर्थ नहीं !

दो मुक्तक

ईश्वर न करे तुम कभी ये दर्द सहो
दर्द, हाँ अगर चाहो तो इसे दर्द कहो
मगर ये और भी बेदर्द सजा है ऐ दोस्त !
कि हाड़ हाड़ चिटख जाय मगर दर्द न हो !

आज माथे पर, नजर में बादलों को साध कर
रख दिये तुमने सरल संगीत से निर्मित अधर
आरती के दीपकों की झिलमिलाती छाँह में
बाँसुरी रक्खी हुई ज्यों भागवत के पृष्ठ पर।

अन्दरूनी मौत के लिए

जरूरी नहीं कि कोई दर्दनाक वाकया घटे
कोई जवान मौत, कोई विस्फोटक दुःखान्त
चट्टान से किसी जहाज की टकराहट
जरूरी नहीं है
होने को
यह कभी भी हो सकता है यहाँ
किसी अँधेरे मोड़ पर गला घोंटकर

मारे जाते हुए
किसी राहगीर की घिघियाती अमानुषिक चीख
भारी ट्रक के सामने आता हुआ बच्चा
ओऽऽऽऽ
जरूरी नहीं कि तुम बेचैन हो
या सोचो कि.........यानि कि
सोचो ही नहीं
यह सब महज गाड़ी के शीशे के पार का
एक काँपता हुआ बेमानी दृश्य
अकस्मात पहिये के नीचे
कुचल जाय एक कबूतर.........और खून और पंख
पहिये के साथ घूमते हुए लगातार
एक बार
या बार-बार और तुम सोचो
यानी कि कुछ सोचो ही नहीं
मुमकिन है।
जरूरी नहीं कि कोई दर्दनाक वाकया घटे
अब यूँ ही किसी बम्बइया बरसात की दोपहर
तुम अनमने बैठे हो
खाली दिमाग खिड़की के पार समुद्र देखते हुए
और चौखट से झूलती
एक अकेली बूँद
खामोश चू पड़ने के पहले
भरसक थमें, रुके फिर गिरे
और शीशे पर लकीर बताती चली जाय
और तुम अकस्मात पाओ
कि समुन्दर दो फाँक हो गया है
और एक लकीर उभर आयी है तुम्हारे अन्दर
अकस्मात चीख उठा है वही
अँधेरे मोड़ पर मारा जाता हुआ आदमी
ट्रक के सामने आता हुआ बच्चा

और तुम सब छोड़कर कूद पड़े हो
डरो मत ! मैं हूँ ! मैं हूँ ! मैं हूँ !

और बे खौफ तुम ने हाथ दे दिया है पहिए और
डरे हुए कबूतर के बीच
या
जरूरी नहीं यह भी
कि तुम्हें याद आये
सिवा एक रोज-रोज रोजमर्रा की मद्धिम मौत
शीशे पर धीरे-धीरे फिसलती हुई चारों ओर
तुम्हारे लिए
जरूरी नहीं कि कोई दर्दनाक वाकया घटे
कोई विस्फोटक दुःखन्त ।

इतिहास: एक प्रश्न

अच्छा, मेरे महान कनु
मान लो कि क्षण भर को
मैं यह स्वीकार लूँ
कि मेरे ये सारे तन्मयता के गहरे क्षण,
सिर्फ भाववेश थे,
सुकोमल कल्पनाएँ थीं
रँगे हुए, अर्थहीन, आकर्षक शब्द थे—
मान लो कि
क्षण भर को
मैं यह स्वीकार लूं
कि पाप-पुण्य, धर्माधर्म, न्याय-दण्ड
क्षमा-शील वाला यह तुम्हारा युद्ध सत्य है
तो भी मैं क्या करूँ कनु,
मैं तो वह हूँ
तुम्हारी बावरी मित्र
जिसे सदा उतना ही ज्ञान मिला जितना तुमने उसे दिया।
जितना तुमने मुझे दिया है अभी तक
उसे पूरा समेट कर भी,
आस पास जाने कितना है तुम्हारे इतिहास का
जिसका कुछ अर्थ मुझे समझ नहीं आता है !

अपनी जमुना में
जहाँ घण्टों अपने को निहारा करती थी मैं
वहाँ अब शस्त्रों से लदी हुई
अगणित नौकाओ की पंक्ति
रोज रोज कहाँ जाती हैं ?
धारा से बह-बह कर आते हुए, टूटे रथ
जर्जर पताकायें-किसकी हैं ?
हारी हुई सेनायें, जीती हुई सेनायें
नभ को कँपते हुये युद्ध घोप, क्रन्दन स्वर,

भागे हुए सैनिकों से सुतीं हुई
अकल्पनीय, अमानुषिक घटनायें युद्ध की
क्या ये सब सार्थक हैं ?
चरो दिशाओं से
उत्तर के उड़-उड़ कर जाते हुये गृद्धों को
क्या तुम बुलाते हो
(जैसे बुलाते थे भटकी हुई गायों को)
जितनी समझ तुमसे अब तक पाई है कनु
उतनी बटोर कर भी
कितना कुछ है जिसका
कोई भी अर्थ मुझे समझ नहीं आता है
अर्जुन की तरह कभी
मुझे भी समझा दो
सार्थकता है क्या बन्धु ?
मान लो कि मेरी तन्मयता के गहरे क्षण
रँगे हुये अर्थहीन आकर्षक शब्द थे—
तो सार्थक फिर क्या है कनु ?

शब्द : अर्थहीन

पर इस सार्थकता को तुम मुझे
कैसे समझाओगे कनु ?
शब्द .... शब्द .... शब्द ....
मेरे लिये सब अर्थहीन है

यदि वे मेरे पास बैठकर
मेरे रूखे कुन्तलों में उँगलियाँ उलझाये हुए
तुम्हारे काँपते अधरों से नहीं निकलते
शब्द .... शब्द....... शब्द........
कर्म, स्वधर्म, निर्णय, दायित्व
मैंने भी गली-गली सुने हैं ये शब्द
अर्जुन ने इनमें चाहे कुछ भी पाया हो
मैं इन्हें सुन कर कुछ भी नहीं पाती प्रिय,
सिर्फ राह में ठिठक कर
तुम्हारे उन अक्षरों की कल्पना करती हूँ
जिनसे तुमने ये शब्द पहली बार कहे होंगे
तुम्हारा साँवरा लहराता हुआ जिस्म
तुम्हारी किंचित मुड़ी हुई शंख-ग्रीवा
तुम्हारी उठी हुई चन्दन बाँहें
तुम्हारी अपने में डूबी हुई अधखुली दृष्टि
धीरे-धीरे हिलते हुए तुम्हारे
जादू भरे होंठ !
मैं कल्पना करती हूँ कि
अर्जुन की जगह मैं हूँ
और मेरे मन में मोह उत्पन्न हो गया है
और मैं नहीं जानती कि युद्ध कौन-सा है

और मैं किसके पक्ष में हूँ
समस्या क्या है
और लड़ाई किस बात की है
लेकिन मेरे मन में मोह उत्पन्न हो गया है
क्योंकि तुम्हारे द्वारा समझाया जाना
मुझे बहुत अच्छा लगता है
और सेनाएँ स्तब्ध खड़ी हैं
और इतिहास स्थगित हो गया है
और तुम मुझे समझा रहे हो.........
कर्म, स्वधर्म, निर्णय, दायित्व,
शब्द, शब्द, शब्द.........
मेरे लिए नितान्त अर्थहीन हैं

मैं इस सबके परे अपलक तुम्हें देख रहीं हूँ
हर शब्द को अँजुरी बनाकर
बूँद बूँद तुम्हें पी रही हूँ
और तुम्हारा तेज
मेरे जिस्म के एक-एक मूर्छित संवेदन को
धधका रहा है
और तुम्हारे जादू भरे होठों से
रजनीगन्धा के फूलों की तरह टप टप शब्द झर रहे हैं
एक के बाद एक के बाद एक.........
कर्म, स्वधर्म, निर्णय, दायित्व.........
मुझ तक आते आते सब बदल गए हैं
मुझे केवल सुन पड़ता हैं
राधन्, राधन्, राधन्
शब्द, शब्द, शब्द, ...
तुम्हारे शब्द अगणित हैं कनु, संख्यातीत
पर उनका अर्थ मात्र एक है—
मैं,
मैं,
केवल मैं !
फिर उन शब्दों से
मुझी को
इतिहास कैसे समझाओगे कनु ?

समुद्र-स्वप्न

जिसकी शेषशय्या पर
तुम्हारे पास युग युगों तक क्रीड़ा की है
आज इस समुद्र को मैंने स्वप्न में देखा कनु !
लहरों के नीले अवगुंठन में
जहाँ सिन्दूरी गुलाब जैसा सूरज खिलता था
वहाँ सैंकड़ो निष्फल सीपियाँ छटपटा रही हैं
— और तुम मौन हो
मैंने देखा कि अगणित विक्षुब्ध विक्रान्त लहरें

फेन फेंका शिरत्राण पहने,
सिवार का कवच धारण किये
निर्जीव मछलियों के धनुष लिए
युद्ध मुद्रा में आतुर हैं
— और तुम कभी मध्यस्थ हो
कभी तटस्थ,
कभी युद्धरत
और मैंने देखा कि अन्त में तुम
थम कर
इस सबसे खिन्न, उदासीन, विस्मित ओर कुछ कुछ आहत
मेरे कन्धों से टिक कर बैठ गये हो
और तुम्हारी अनमनी भटकती उँगलियाँ
तट की गीली बालू पर
कभी कुछ कभी कुछ लिख देती हैं
किसी उपलब्धि को व्यक्त करने के अभिप्राय से नहीं
मात्र उँगलियों को ठण्डे जल में डुबोने का
क्षणिक सुख लेने के लिये !
आज उस समुद्र को मैने स्वप्न में देखा कनु !
विषभर फेन, निर्जीव सूर्य, निष्फल सीपियाँ, निर्जीव मछलियाँ...
लहरें नियन्त्रणहीन होती जा रही हैं
और तुम तट पर बाँह उठा उठा कर कुछ कह रहे हो
पर तुम्हारी कोई नहीं सुनता, कोई नहीं सुनता !
अन्त में तुम हार कर, लौट कर, थक कर
मेरे वक्ष के गहराव में
अपना चौड़ा माथा रख कर
गहरी नींद में सो गये हो ....
और मेरे वक्ष का गहराव
समुद्र में बहता हुआ बड़ा सा ताजा, कौरा, मुलायम
गुलाबी बटपत्र बन गया है
जिस पर तुम छोटे से छौने की भाँति
लहरों के पालने में महाप्रलय के बाद सो रहे हो !
नींद में तुम्हारे होंठ धीरे धीरे हिलते हैं
स्वधर्म ! ... आखिर मेरे लिये स्वधर्म क्या है ?

और लहरें थपकी देकर तुम्हें सुलाती हैं
तो जाओ योगिराज सो जाओ निद्रा
समाधि हैं.......
नींद में तुम्हारे होठ धीरे-धीरे हिलते हैं

"न्याय-अन्याय, सद्असद् विवेक-अविवेक—
कसौटी क्या है ? आखिर कसौटी क्या है ?''
और लहरें थपकी देकर तुम्हें सुला देती हैं
सो जाओ योगेश्वर.......... जागरण स्वप्न है,
छलना है, मिथ्या है।''

और तुम्हारे माथे पर पसीना झलक आया है
और होठ काँप रहे हैं
और तुम चौंक कर जाग जाते हो
और तुम्हें कोई भी कसौटी नहीं मिलती
और जुएँ के पाँसे की तरह तुम निर्णय को फेंक देते हो
जो मेरे पैताने है वह स्वधर्म
जो मेरे सिराहने है वह अधर्म........
और यह सुनते ही लहरें
घायल साँपो सी लहर लेने लगती है
और प्रलय फिर शुरू हो जाता है
और तुम फिर उदास होकर किनारे बैठ जाते हो
और विषाद्पूर्ण दृष्टि से शून्य में देखते हुए
कहते हो— “यदि कहीं उस दिन मेरे पैताने
दुर्योधन होता तो........ आह,
इस विराट समुद्र के किनारे ओ अर्जुन मैं भी
अबोध बालक हूँ।’’
आज मैंने समुद्र को स्वप्न में देखा कनु !
तट पर जल देवदारुओं में
बार-बार कण्ठ खोलती हुई हवा
गूंगे झकोरे
बालू पर अपने पगचिह्न बनाने के कारण प्रयास में
बैसाखियों पर चलता हुआ इतिहास
लहरों में तुम्हारे श्लोकों से अभिमन्त्रित गाण्डीव
गले हुए सिवार सा ऊपर उतरा आया है ....

और लान तुम तटस्थ हो और उदास
समुद्र के किनारे
नारियल के कुंज हैं
और तुम एक बूढ़े पीपल के नीचे चुपचाप बैठे हो
मौन परिशमित, विरक्त
और पहली बार जैसे तुम्हारी अक्षय तरुणाई पर
थकान छा रही है !
और चारों ओर
एक खिन्न दृष्टि से देखकर
एक गहरी साँस लेकर
तुमने असफल इतिहास को
जीर्ण वसन की भाँति त्याग दिया है
और इस क्षण
केवल अपने में डूबे हुए
दर्द से पके हुए
तुम्हें बहुत दिन बाद मेरी याद आयी है
काँपती हुई दीप-लौ जैसे
पीपल के पत्ते
एक एक कर बुझ गये
उतरता हुआ अँधियारा.......

समुद्र की लहरें
अब तुम्हारे फैली हुई साँवरी शिथिल बाँहें हैं
भटकती सीपियाँ तुम्हारे काँपते अधर
और अब इस क्षण तुम
एक भरी हुई
पकी हुई
गहरी पुकार हो.....
सब त्याग कर
मेरे लिए भटकती हुई.....

समापन

तुम ने उस वेला क्या मुझे बुलाया था कनु ?
लो मैं सब छोड़ छाड़ कर आ गयी |

इसीलिए तब
मैं तुममें बूँद की तरह विलीन नहीं हुई थी
इसीलिए मैने अस्वीकार कर दिया था
तुम्हारे गोलोक का
कालावधिहीन रास
क्योंकि मुझे फिर आना था !
तुमने मुझे पुकारा था न
मैं आ गयी हूँ कनु !
और जन्मान्तरों की अनन्त पगडण्डी के
कठिनतम मोड़ पर खड़ी होकर
तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ
कि इस बार इतिहास बनाते समय
तुम अकेले न छूट जाओ !
सुनों मेरे प्यारे !
प्रगाढ़ के लक्षणों में अपनी अन्तरंग
सखी को तुमने बाँहों में गूँथा
उसे इतिहास में गूँथा
उसे इतिहास में गूँथने से हिचक क्यों गये प्रभु ?
बिना मेरे कोई भी अर्थ कैसे निकल पाता
तुम्हारे इतिहास का
शब्द .... शब्द .... शब्द........
राधा के सब बिना
रक्त के प्यासे
अर्थहीन शब्द।
सुनो मेरे प्यारे !
तुम्हें मेरी जरूरत थी न, लो मैं सब छोड़ कर आ गयी हूँ
कि कोई यह न कहे
कि तुम्हारी अन्तरंग केलिसखी
केवल तुम्हारे साँवरे तन के नशीले संगीत की
लय बन कर रह गयी........
मैं आ गयी हूँ प्रिय !

मेरी वाणी में अग्नि-पुष्प गूँथने वाली
तुम्हारी अँगुलियाँ
अब इतिहास में अर्थ क्यों नहीं गूँथती ?

तुमने मुझे पुकारा था न !
मैं पगडण्डी के कठिनतम मोड़ पर
तुम्हारी प्रतिज्ञा में
अविचल खड़ी हूँ कनु मेरे।

पूर्वराग

ओ पथ के किनारे खड़े
छायादार पावन अशोक-वृक्ष ।
तुम यह क्यों कहते हो कि
तुम मेरे चरणों के स्पर्श की प्रतीक्षा में
जन्मों से पुष्पहीन खड़े थे
तुमको क्या मालूम कि
मैं कितनी बार केवल तुम्हारे लिए
धूल में मिली हूँ
धरती में गहरे उतर
जड़ों के सहारे
तुम्हारे कठोर तने के रेशों से
कलियाँ बन, कोमल बन, सौरभ बन, लाली बन
चुपके से सो गयी हूँ
कि कब मधुमास आये और तुम कब मेरे
प्रस्फुटन से छा जाओ।
फिर भी तुम्हें याद नहीं आया, नहीं आया
तब तुमको मेरे इन जावक-रचित पावों ने
केवल यह स्मरण करा दिया कि मैं तुम्हीं में हूँ
तुम्हारे ही रेशे-रेशे में सोयी हुई
और अब समय आ गया कि
मैं तुम्हारी नस-नस में पंख पसार कर उडूंगी
और तुम्हारी डाल-डाल में गुच्छे-गुच्छे लाल-लाल
कलियाँ बन खिलूँगी।
ओ पथ के किनारे खड़े
छायादार पावन अशोक-वृक्ष
तुम यह क्यो कहते हो कि

तुम मेरी ही प्रतीक्षा में
कितने ही जन्मों में पुष्पहीन खड़े थे।

अंधा युग (कुछ अंश)

(स्थापना)
युद्धोपरान्त
यह अन्धायुग अवतरित हुआ

जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ सब विकृत हैं
है एक बहुत पतली डोरी मर्यादा की
पर वह भी उलझी है दोनों ही पक्षों में
सिर्फ कृष्ण में साहस है सुलझाने का
वह है भविष्य का रक्षक, वह है अनासक्त
पर शेष अधिकतर हैं अन्धे
पथभ्रष्ट, आत्महारा, विगलित
अपने अन्तर की अन्ध-गुफाओं के वासी
यह कथा उन्हीं अन्धों की है,
या कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से

कौरव नगरी

(कथा गायन)
टुकड़े-टुकड़े हो बिखर चुकी मर्यादा
उसको दोनों ही पक्षों ने तोड़ा है
पाण्डव को कुछ कम कौरव ने कुछ ज्यादा
यह रक्तपात अब कब समाप्त होना है
क्या अजब युद्ध है नहीं किसी की भी जय
दोनों पक्षों को खोना ही खोना है
अन्धों से शोभित था युग का सिंहासन
दोनों ही पक्षों में विवेक ही हारा
दोनों ही पक्षों में जीता अन्धापन
भय का अन्धापन ममता का अन्धापन
अधिकारों का अन्धापन जीत गया

जो कुछ सुन्दर था, शुभ था, कोमलतम था
वह हार गया........द्वापर युग बीत गया
आसन्न पराजय वाली इस नगरी में
सब नष्ट हुई पद्धतियाँ धीमे-धीमे
यह शाम पराजय की, भय की, संशय की
भर गए तिमिर से ये सूने गलियारे
जिनमें बूढ़ा झूठा भविष्य याचक-सा
है भटक रहा टुकड़े को हाथ पसारे
अन्दर केवल दो बुझती लपटें बाकी
राजा के अन्धे दर्शन की बारीकी
या अन्धी आशा माता गान्धारी की
वह संजय जिसको यह वरदान मिला है
वह अमर रहेगा और तटस्थ रहेगा।
जो दिव्य दृष्टि से सब देखे समझेगा
जो अन्धे राजा से सब सत्य कहेगा
जो मुक्त रहेगा ब्रह्मास्त्रों के भय से
जो मुक्त रहेगा उलझन से, संशय से
वह संजय भी
इस मोह निशा से घिरकर
है भटक रहा

जाने किस कटक पथ पर

पंख, पहिये और पट्टियाँ

वृद्ध याचक:
पहले मैं झूठा भविष्य था, वृद्ध याचक था
अब मैं प्रेतात्मा हूँ।
अश्वत्थामा ने मेरा वध किया था !
जीवन एक अनवरत प्रवाह है
और मौत ने मुझे बाँह पकड़ कर किनारे खींच लिया है
और मैं तटस्थ रूप से किनारे पर खड़ा हूँ।
और देख रहा हूँ—
कि

यह युग एक अन्धा समुद्र है
चारों ओर से पहाड़ों से घिरा हुआ
और दर्रों से
और गुफाओं से
उमड़ते हुए भयानक तूफान चारों ओर से
उस मथ रहे हैं
और उस बहाव में मन्थन है, गीत हैं;
किन्तु नदी की तरह सीधी नहीं
बल्कि नागलोक के किसी गह्वर में
सैकड़ों, केंचुल चढ़े, अन्धे साँप
एक दूसरे से लिपटे हुए
आगे पीछे
ऊपर नीचे
टेढ़े मेढ़े
रेंग रहे हों
उसी तरह सैंकड़ों धाराएँ, उपधाराएँ
अन्धे साँपों की तरह बिलबिला रही हैं।
ऐसा है यह अन्धा समुद्र
जिसे हम आज का भवप्रवाह कह सकते हैं।
और कुछ सफेद केंचुल ऊपर तैर आये हैं
सफेद पट्टियों की तरह
ये पट्टियाँ गान्धारी की आँखों पर हैं,
सैनिकों के जख्मों पर हैं
मैनें अपनी प्रेतशक्ति से
सारे प्रवाह को
कथा की गति को बाँध दिया है,
और सब पात्र अपने स्थान पर स्थिर
हो गया हैं
क्योंकि मैं चीर-फड़ाकर हरेक की आन्तरिक
असंगति समझना चाहता हूँ !
ये हैं वे पात्र

मेरी मन्त्रशक्ति से परिचालित थे
छाया रूप में आते हैं !

मैं हूँ युयुत्सु
मैं उस पहिये की तरह हूँ
जो पूरे युद्ध के दौरान में रथ से लगा रहा
पर जिसे अब लगता कि वह गलत धुरी में लगा था
और मैं अपनी उस धुरी से उतर गया हूँ !
मैं संजय हूँ
जो कर्मलोक से बहिष्कृत है
मैं दो बड़े पहियों के बीच लगा हुआ
एक छोटा निरर्थक शोभाचक्र हूँ
जो बड़े पहियों के साथ घूमता है
पर रथ को आगे नहीं बढ़ाता
और न धरती ही छू पाता है !
और जिसके जीवन का सबसे दुर्भाग्य यह है
कि वह धुरी से उतर भी नहीं सकता !
मैं विदुर हूँ
कृष्ण का अनुगामी, भक्त और नीतिज्ञ
पर मेरी नीति साधारण स्तर की है
और युग की सारी स्थितियाँ असाधारण हैं
और अब मेरा स्वर संशयग्रस्त है
क्योंकि लगता है कि मेरे प्रभु
उस निकम्मी धुरी की तरह हैं
जिसके सारे पहिये उतर गए हैं
और जो खुद घूम नहीं सकती
पर संशय पाप है और मैं पाप नहीं करना चाहता !

विजय: एक क्रमिक आत्महत्या

युधिष्ठर :
ऐसे भयानक महायुद्ध को
अर्द्धसत्य, रक्तपात हिंसा से जीतकर
अपने को बिल्कुल हारा हुआ अनुभव करना
यह भी यातना ही है,
जिनके लिए युद्ध किया है

उनको यह पाना कि वे सब कुटुम्बी अज्ञानी हैं
जड़ है, दुर्विनीत हैं, या जर्जर हैं,
सिंहासन प्राप्त हुआ है जो
यह पाना कि उसके पीछे अन्धेपन की
अटल परम्परा है;
जो हैं प्रजाएँ
यह पाना कि वे पिछले शासन के
विकृत साँचे में है ढली हुई
और

खिड़की के बाहर गहरे अँधियारे में
किसी ऐसे भावी अमंगल युग की आहट पाना
जिसकी कल्पना ही थर्रा देती हो,
फिर भी
जीवित रहना, माथे पर मणि धारण करना
बधिक अश्वत्थाम का, यातना यह वह है
बन्धु दुर्योधन !
जिसको देखते हुए तुम कितने भाग्यशाली थे
कि पहले ही चले गए
बाकी बचा मैं
देखने को अँधियारे में निर्निमेष भावी अमंगल युग
किसको बताऊँ किन्तु,
मेरे ये कुटुम्बी अज्ञानी हैं, जड़ है, दुर्विनीत हैं,
या जर्जर हैं।
यों गए बीतते दिन पाण्डव शासन के
नित और अशान्त युधिष्ठर होते जाते
वह विजय और खोखली निकलती आती
विश्वास सभी घन तम में खोते जाते।

प्रभु की मृत्यु

वंदना,
तुम जो शब्द-ब्रह्म, अर्थों के परम अर्थ
जिसका आश्रय पाकर वाणी होती न व्यर्थ

हैं तुम्हें नमन; है उन्हें नमन
करते आये जो निर्मल मन
सदियों से लीला का गायन
हरि के रहस्यमय जीवन की;
है जरा अलग यह छोटी-सी
मेरी आस्था की पगडंडी
दो मुझे शब्द, दो रसानुभव, दो अलंकरण
मैं चित्रित करूँ तुम्हारा करुण रहस्य-मरण

कथा-गायन

वह था प्रभास वन-क्षेत्र, महासागर तट पर
नभचुम्बी लहरें रह-रह खातीं थीं पछाड़
था धुला समुद्री फेन समीर झकोरों में
बह चली हवा, वह खड़-खड़-खड़ कर उठे ताड़
थी वनतुलसा की गँध वहाँ, था पावन छायामय पीपल
जिसके नीचे धरती पर बैठे थे प्रभु शान्त, मौन, निश्चल
लगता था सब कुछ थका हुआ वह नील मेघ सा तन साँवल
माला के सबसे बड़े कमल में बची एक पँखुरी केवल
पीपल के दो चंचल पातों की छायाएँ
रह-रह उनके कंचन माथे पर हिलती थीं

वे पलकें दोनों तन्द्रालय थीं अधखुली थीं
जो नील कमल की पाँखुरियों-सी खिलती थीं
अपनी दाहिनी जाँघ पर रख
मृग के मुख जैसा बाँया पग
टिक गये तने से, ले उसाँस
बोले 'कैस सा विचित्र था युग !'
कुछ दूर कँटीली झाड़ी में
छिप कर बैठा था एक व्याघ्र
प्रभु के पग को मृग-वदन समझ
धनु खींच लक्ष्य था रहा साध।
बुझ गये सभी नक्षत्र, छा गया तिमिर गहन
वह और भयंकर लगने लगा भयंकर वन

कवितान्तर (कविता-खंड) पृष्ठ-101

जिस क्षण प्रभु ने प्रस्थान किया
द्वापर युग बीत गया उस क्षण
प्रभुहीन धरा पर आस्थाहत
कलियुग ने रक्खा प्रथम चरण
वह और भयंकर लगने लगा भयंकर वन।

काव्य गायन

उस दिन जो अन्धा युग अवतरित हुआ जग पर
बीतता नहीं वह रह-रहकर दोहराता है
हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं-न-कहीं
हर क्षण अंधियारा गहरा होता जाता है
हम सब के मन में गहरा उतर गया है युग
अंधियारा है, अश्वत्थामा है, संजय है
है दासवृत्ति उन दोनों वृद्ध प्रहरियों की,
अन्धा संशय है, लज्जाजनक पराजय है !
पर एक तत्व है बीजरूप स्थिति मन में
साहस में, स्वतन्त्रता में, नूतन सर्जन में
वह है निरपेक्ष उतरता है पर जीवन में
दायित्व-युक्त, मर्यादित, मुक्त आचरण में
उतना जो अंश हमारे मन का है
वह अर्द्ध-सत्य से, ब्रह्मास्त्रों के भय से,
मानव-भविष्य को हर दम रहे बचाता
अन्धे संशय, दासता पराजय से

कवितान्तर (कविता-खंड) पृष्ठ-102

❖

नरेश मेहता

जन्म 15 फरवरी 1922 ई0 में मालवा के एक छोटे से अंचल शाजापुर में हुआ। मेहता उनके पूर्वजों की पदवी है। ढाई वर्ष की अवस्था में ही ये मातृविहीन हो गये थे। पिता पं0 बिहारीलाल शुक्ल (मेहता) परिस्थितियों के कारण पारिवारिक रूप से अत्यन्त निःसंग तथा वैष्णव-भक्त (राममार्गी) हो गये थे। इनका बचपन चाचा पं0 शंकरलाल जी शुक्ल (मेहता) के संरक्षण में व्यतीत हुआ। उज्जैन से उन्होंने इण्टमीडिएट की परीक्षा उत्तीर्ण की। छात्र-जीवन में नरेश मेहता ने स्वाधीनता आन्दोलनों में

जमकर भाग लिया था और इस प्रकार प्रमुख छात्र नेता के रूप में इनका व्यक्तित्व उभर कर सामने आया। सन् 42 के आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने के कारण अधिकारियों का कोप भाजन भी बनना पड़ा था। उज्जैन के बाद उनकी उच्चतर शिक्षा काशी विश्वविद्यालय में पूरी हुई। वहीं से उन्होंने यू. ओ. टी. सी. में देहरादून जाकर सेकेण्ड लेफ्टिनेन्ट का प्रशिक्षण प्राप्त किया। वहाँ उन्होंने 'ट्रेन्चेज' के पीछे से उपन्यास लिखा जो उग्र राजनीतिक विचारों के कारण अंग्रेज अधिकारियों द्वारा जब्त कर लिया गया। नरेश मेहता की नियुक्ति आकाशवाणी लखनऊ में हुई। लखनऊ, नागपुर के अतिरिक्त वे इलाहाबाद विविध केन्द्रों में भी रहे। सन् 1953 में उन्होंने इस पद से त्याग-पत्र दे दिया। इसके पश्चात दिल्ली से उन्होंने कुछ मित्रों के सहयोग से 'साहित्यकार' पत्रिका का सम्पादन किया। इसके बाद अखिल भारतीय मजदूर संगठन के मुखपत्र 'भारतीय श्रमिक' के सम्पादक नियुक्त हुए। इसके साथ ही साथ उन्होंने प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका 'कृति' का भी सम्पादन भारत संभाला जिसमें श्रीकान्त वर्मा उनके सहयोगी थे। सन 1957 में विवाह हुआ। सन 1959 में दिल्ली छोड़कर प्रयाग चले आये। संप्रति स्वतन्त्र लेखन में व्यस्त। सन 72 के प्रारम्भिक कुछ महीनों में एक राजनीतिक साप्ताहिक 'आगामी कल' का भी सम्पादन किया। अब उससे मुक्त हैं।

नरेश मेहता छायावादोत्तर काव्य के अत्यन्त प्रतिभावान तथा बंगला संस्कार से प्रभावित संवेदनशील रचनाकार के रूप में विख्यात हैं। परम्परा तथा आधुनिकता का जैसा लालित्यपूर्व किन्तु वैचारिक समन्वय नरेश मेहता में मिलता है। सौन्दर्य-बोध एवं चिन्तन का अभिव्यक्तिगत गुम्फन उनकी रच-

नाओं की गहराई तथा प्रौढ़ता प्रदान करता है। वे जितने सफल अपनी काव्य-रचनाओं में हैं, उतने ही सफल अपनी कहानियों, उपन्यासों तथा नाटकों में भी। नयी कविता के कुछ अत्यन्त प्रयोगशील कवियों में नरेश मेहता प्रमुख हैं। किन्तु उनकी प्रयोगशीलता की दिशा प्राचीन वैदिक संस्कृति तथा पौराणिक सन्दर्भों से प्रेरणा प्राप्त करती रही है रीति तत्व उनके काव्य का मूल आधार दिखाई देता है। गुजराती ब्राह्मण होते हुए भी इनके परिवार में मालवी भाषा तथा मालवा प्रदेश के संस्कार प्रारम्भ से ही प्रधान रहे।

प्रकाशित रचनाएँ

कविता- वन पाखी सुनो (1957), बोलने दो चीड़ को (1962), मेरा समर्पित एकान्त (1963),। आखिर समुद्र से तात्पर्य, अरण्या, तुम मेरा मौन हो, उत्सवा, प्रवाद पर्व तुम मेरा मौन हो (संकलन)।

खण्ड काव्य- संशय की एक रात (1962), शबरी, महाप्रस्थान।

नाटक- सुबह के घण्टे (1955), खण्डित यात्राएँ (1962)।

एकांकी- सनोवर के फूल (1962), पिछली रात की बरफ (1962)।

कहानी- तथापि (1962), एक समर्पित महिला (1967), जलसा घर।

उपन्यास- डूबते मस्तूल (1954), यह पथ बंधु था (1962), धूमकेतु : एक श्रुति (1963), दो एकान्त (1964), नदी यशस्वी है (1967), प्रथम फाल्गुन (1968), उत्तर कथा (दो भाग) डूबते मस्तूल, निष्णात।

काव्य-आलोचना- काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व (1972)।

सम्पादन- वाग्देवी (आधुनिक कवियों का विषद काव्य-संकलन) (1972)।

❖

पीले फूल कनेर के

पीले फूल कनेर के !!
पथ अँगोरते
सिन्दूरी बडरी अँखियन के
फूले फूल दुपेर के !!
दौड़ी हिरना
बन बन अँगना—
बेतबनों की चोर मुरलिया
समय—संकेत, सुनाये;

नाम बजाये,
साँझ सँकारे
कोयल तोतो के सँग हारे
ये रतनारे—
खोजे कूप, बावली, झाऊ,
बाट, बटोही, जमुन कछारें—
कहाँ रास के मधू पलास हैं ??
बटशाखों पे सगुन डाकते मेरे मिथुन बटेर के !!
पीले फूल कनेर के !!
पाट पट गये,
कगराये तट,
सरसों घेरे खड़ी हिलाती पीत-चँवरिया सूनी पगघट
सखि ! फागन की आभा मन पे हलद् चढ़ गयी—
मँहदी मह्रुए की पह्रुआ में
नींद सरीखी लाज उड़ गयी—
कागा बोले मोर अटरिया
इस पाहुन बेला में तूने
चौमासा क्यों किया पिया ?
क्यों किया पिया ??
यह टेसू-सी नील गगन में हलद् चाँदनी उग आयी री—

डग आयी री—
पर अभी न लौटे उस दिन गये सबेर के !!
पीले फूल कनेर के !!

डाकती संझा

डाकती संझा, बनपाखी ! सुनो !!
नारिकेलों पर थमे हैं
भाद्रपद के मेघ कजरारे,
नील आकाशे खिचे हैं
जलधुले नव क्षितिज उजियारे;
दीर्घपर्णी गुछैले सागौनकुल के बीच
उत्सवप्रिया इन द्रोणियों में झिरनरेखा खींच
विनम्री बादल, प्रणत लौ से—
गुरुजनों सी शाल की ये पंक्तियाँ,
मित्रबाँहों-सी उठी वनघाटियाँ;
सीख देती हैं हमें—
यह आयु का अभिषेक है
स्वीकारती संझा, बनपाखी ! सुनो !!
डाकती संझा, बनपाखी ! सुनो !!
चरण में दाबे क्षितिज ये
पंक्तिबद्ध चिनार,
मेघकपिला दुह रहे थे
देवचरितों के देवदार उदार;

गिलहरी-सी चंचला बनवाट दूबों बीच,
हँसदेशों ओर ले जाती हमें यह खींच
हेमलोकी यही हँसद्वार—
शिखर वस्त्रित वायु की वनबोलियाँ,
साँझ संगीता भरी घनघण्टियाँ,
सुनो यात्रिक ! सुनो
शेष गायन गा रहे सुधिहंस
सहसंगीतती संझा, बनपाखी ! सुनो !!
डाकती संझा, बनपाखी ! सुनो !!

किरन-धेनुएँ

उदयाचल से किरन-धेनुएँ
हाँक ला रहा
वह प्रभात का ग्वाला।
पूँछ उठाये चली आ रही
क्षितिज-जंगलों से टोली
दिखा रहे पथ इस भूमा का
सारस सुना-सुना बोली
गिरता जाता फेन मुखों से
नभ में बादल बन तिरता
किरन धेनुओं का समूह यह
आया अन्धकार चरता।
नभ की आम्रछाँह में बैठा
बजा रहा बंशी रखवाला।
ग्वालिन सी ले दूब मधुर
वसुधा हँस-हँसकर गले मिली
चमका अपने स्वर्ण-सींग वे
अब शैलों से उतर चले
बरस रहा आलोक-दूध है
खेतों-खलिहानों में
जीवन की नव-किरन फूटती
मकई के घानों में
सरिताओं में सीस दुह रहा
वह अहीर मतवाला।

जितने जल उतने ही संशय

कल तक जो रक्षाजल था
उस खाईजल में
छायाएँ तल जा बैठी हैं।
हम नहीं
हमारा संशय उनमें प्रतिछायित है

ये भय की मुग्धायें

अपनी वंशबेल से
घेरे हैं मेरी प्रज्ञा को ।
जितने जल उतने ही संशय—
वृद्ध कँगूरे
दुहरित जल में—साँप हो रहे,
वनफूलों में
षड्यन्त्रों की गन्ध आ रही ।
रंग
हत्या की हँसी सरीखे
खिल् खिल् खिल् खिल् ।
कोई सूँघ गया है सबको
अनजाने ही ।
बन्धु ! हमारी डाकें सब पाथरित हो रहीं
विधवा की लज्जा-सी
नीवों में दम तोड़ रही हैं।
स्मृतियाँ
पायल बाँधे विषकन्या-सी
रक्तस्नात थापें देती हैं।
पितामहों के तैलचित्र
शव से गँधियाते,
साँझ
प्रलम्बित भाले लेकर
भय दीवारें टीप रहीं हैं।
खाईजल के षड्यन्त्रों को
वध देने को
खड्ग हाथ में
किन्तु नहीं संकल्प
और
स्वयं में बैठे संशय का वध
कैसे होगा ?
कैसे होगा ??

पूर्णता

अब भी फूल खिलता है
मुझे पूर्ण करता है
गन्ध
अतिरिक्त कृपा है ।
मिट्टी को रँगना
कितनी सार्थक है रचना ।
जो उदारमना वनस्पति !
कहाँ-कहाँ, किन-किन रूपों में
कर्म को निभाती हो ।
आरात्रिक कैसी यह वानस्पतिक करुणा हवा में
होती है
यह होना ही पूजा है

वृक्ष जब धर्मरूप होता है
फूल खिलता है
मुझे पूर्ण करता है।

प्रार्थना

इस वसुमती को कुचलो नहीं
चलो
चलना यात्रा है
यात्राएँ नहीं होती हैं।
अनेकों ऐसी नदियों का
मिलना
तीर्थिति होता है
फूल में
धान में
वनस्पित में
रंग-गंध-गुण यात्राएँ कर
पृथक-पृथक दीपित हो
अपने में तीर्थ किए पृथ्वी को

शोभित हैं।
ओ माँ
मुझे प्रार्थना करो
मेरी इस देह में
विनत मानस में
अपनी वानस्पतिक पिरक्रमा कर
मुझे पार्थिव करो
ताकि मेरे चलने में भी
नदियाँ हों
वनस्पति की सुगन्ध हो।
मैं भी सदेह पृथिवी बनूँ ।

निवेदनम्

समर्पण को व्यक्तिवेदी दो !!
बिना जिसके
गर्व है यह माथ
स्कन्ध का आधार दो
व्यक्तिवेदी दो समर्पण को !!
पथलिये वन बुझ रहे वे
शुभा संकल्प सब गाछ
दुःख दुहरा रहे वे
वेदना के स्मरण से कुछ शेष आँधारे
शिखर
आकाश के अध्याय बाँचूँगा
सुनो
सूर्यास्त है

झेल लो तुम क्षितिज बनकर
साँझ संज्ञा दो
सँझा दो सूर्य को
हलदडैना चाँदनी !
वचनजल में दुखबलाका तैर जाने दो !!

समर्पण को व्यक्तिवेदी दो !!
प्रतिसूर्य का तिथिदीप
मेरी आयुतुलसी सम्मुखे
बुहर जाता
कल जिसे मैंने जिया
खोल जाता अर्थ-सा आठों दिशा
पर व्यर्थ है यह गगन-कलशी
धूप का अभिषेक
खींचती है मृत्तिका सब स्वत्व
इस संघर्ष पार्थिव को
बाहुओं की जलाधारी दो !!
समर्पण को व्यक्तिवेदी दो !!

काम्या

जो जहाँ भी हैं
समर्पित है
सत्य को।
ये फूल
और यह धूप
लहलहाते खेत
नदी का कूल
क्या प्रार्थनाएँ नहीं हैं ?
ये व्यक्तित्व-निवेदित
उर्ध्व के प्रति क्या नहीं हैं ?
तब
प्रार्थना में
निवेदन में
समर्पण में
क्यों नहीं व्यक्तित्व मेरा नदी बनता ?
तब क्यों नहीं यह भाव मेरा
प्रत्येक को
फूल-सा रंग-बाँध देकर विनम्रित होता ?

तब क्यों नहीं इन बाहुओं से
सृष्टि को मैं भेंट पाता ?
चाहता हर बार
उन्मुक्त हो घर द्वार
अन्तर का |
प्रशस्त हो मुझमें हवा

आकाश मुझमें ही लिखा हो
दृष्टियाँ, पृथ्वीकृपा हों
किसी का ही अश्रु
मेरा बने
सब मुझे अपनी पराजय सौंप
सुखी हो जाएँ
किस दिन जगेगा यह पुण्य ?
किस दिन जन्म लेगी यह तपस्या—
जब रहूँ
समर्पित रहूँ
अन्य को ।

अनुनय

यहाँ वहाँ लोग ही लोग हैं
मैं कहाँ हूँ ?
तुम्हारे पैरों के नीचे
मेरा नाम कहीं दब गया है
उठा लेने दो
मेरे लिए यह मूल्य है !
मैं नहीं कहता कि
लोगों की देहों से दुर्गन्ध आती है
पर सुगन्ध भी नहीं कह सकता
ये दोनों ही आग्रह हैं
इसीलिए मिथ्या हैं
जबकि
हर परिश्रम की गन्ध होती है

वही लोगों में होती है
मैं ऐसी गन्ध को भी
मूल्य कहता हूँ ।
लेकिन यह भी नहीं कि
लोग गन्दे नहीं होते
व्यक्तियों की तरह ।
जिस किसी को नाम दोगे
स्वत्व अनुभव होगा
लेकिन
लोग होने का अर्थ
नामों को कुचलना नहीं होता।
आओ
हम सब अपने अपने नाम खोज निकालें
भीड़ों की असावधानियों से जो
कुचल गये हैं
क्योंकि वे मूल्य हैं।
अपने को जानने के लिए कि
हम कब लोग होते हैं

और कब नहीं।

सोनपर्वी दिन

उतरते माघ का यह
सोनपर्वी दिन—
कबूतर-कण्ठ के आकाश में
यशस्वी है।
पीले ज्वार-सी
यह धूपनैना हलद सरसों—
नदिया गोद में,
कूलों-कछारों में,
यात्रियों की भीड़-सी
एकत्र है।
छाहों के अभी भी अंग ठण्डे हैं।

लेकिन धूप
घाम होने लग गयी।
आँख-सा आकाश है,
भोर में
जागे हुए बच्चों-सा
कोपलों का सुख
नया वन है।
हवा—
फगुआ चेष्टा में
लाजहीना है,
मेला घूमते से पात
आवारा हुए हैं।
यह वसन्ती सोनपर्वी दिन
इन्हें उत्सव हुआ है।
यह वसन्ती सोनपर्वी दिन
बाहुओं को कर्म
पदों को यात्रा है |
स्वीकार लो यह
द्वार आया भिक्षु
देवता है।
स्मरण सी
गंगा कछारें
बाणों-सी क्षितिज में डूबती हैं
दूर।
आयु-सा
यह दृष्टिपथ अब बढ़ गया है।
ऐसे में
सोनधूपी दिन
रंग-कुण्डल पहन

संगम के जल में पुण्य-सा
सहयात्री है।
मैं समर्पित यशस्वी इस दिन की
जो यात्रा का पुण्य है,
सोनपर्वी है।

समदर्शी

क्या यह आश्चर्य नहीं कि
नित्य सबेरे
खिड़की पर
एक दिन रखा हुआ मिलता है
पात्र को
कुपात्र को ?
क्या यह आश्चर्य नहीं कि
नित्य एक दिनमणि
कितनी निर्व्यजता से
यों ही
रखी होती
द्वार द्वार ?
पट खुलते ही—
सौभाग्य-सा बरस जाता है दिन,
आलोक जाता है वह
आद्यन्त।
हर अभागे को
वह मणि
कर जाती है श्रीमन्त।
किन्तु यदि सम्भव होता
अन्य के द्वार रखे
दिन औ मणि को चुरा सकना
तो
निश्चय ही हम
दिन को
छड़ी की भाँति
हाथ में लिए,
कण्ठ में मणि चमकाते
अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करते इस
उपलब्धि से।
किन्तु क्या करें

इस समदर्शी दिन का
जो अभी तक प्रकृति है
कृपा नहीं।

मित्र हूँ, प्रियम्वद हूँ

इस अपमानित मुखवाले दिन का
मित्र हूँ, प्रियम्वद हूँ
जिसके आलोक में
सौम्य चीड़-पंक्तियों ने
‘छालों औ फूलों’ की भिक्षा ली
छतनारे देवदार गाछों ने
पर्णहीन पतझर से
वासन्ती-चीवर की दीक्षा ली
सीतापति खेत हुए
टेसू से तिथियाँ सब सुलग उठीं
देवों के यश-सा वह उजला दिन
उत्सव है।
जाना है।
किन्तु तुम उदास बने बैठे रहे
अपने विकल्प सने
कीर्तिप्रिया इन बाहुओं को
ऋतु के पहले ही झुका लिया
कर्म की हत्या की
तुमने तिरस्कृत किया
दिन को
उसकी महत्ता को
ओ हत भागो ! आओ स्वीकारो
बाँसों के फूलों से विनयी हो
खोजो
उस दिन को
जो सम्यक् है
पश्चिम तट खोजो

मत जाने दो अपमानित, उपेक्षित, तिरस्कृत
देवों के यश से उजले उस दिन को
डाको
विनयो
लौटो
ओ सम्यक् दिन ! लौटो
हमें आलोको
हमारी रचनाओं को दूबों का शील दो
हमारी मृत चेतनाओं को धेनु करो
धूपाभिषित करो
आओ हम सरपत का शील वरें
ओ झील की-सी शान्तिमुख वाले सम्यक् दिन !
हम मित्र हैं, प्रियम्वद है !!

एक बोध

अब मिहिर सिर आ गया
तपने लगी यह रेत।

रह गये पीछे
जिनके कुन्तलों की छाँह में
हुआ सूर्योदय हमारा।
बहुत कुछ छूटा
औरा टूटा भी
हम असंगी
स्मरण-बैसाखी सहारे चल रहे।
रेत के पदचिह्न ही क्या हैं ?
ये ही हमारे लिए अनधावित रहे
इनकी मैत्री क्या ?
अब हमारे और उस छूटे विगत के बीच
सम्बन्ध है तो यह कि
हम प्रव्रजावसित हैं।
ऋतु अभिषेक सिर पर झेलते
भाल पर संकोच रेखा

विवशतायें कण्ठ में
अनागत यात्रा, सम्मुख तवे-सी जल रही
हम आयु के अस्वत्थ
अपनी छाँह भी स्वीकार जिसको है नहीं।

संशय की एक रात
(संदिग्ध मन का संकल्प और सवेरा)

राम
मैंने अपने को सौंप दिया
ज्वारों को
विवश धरती-सा सौंप दिया |
अपने को सौंप दिया |
ओ मेरे आधे व्यक्तित्व के
अधूरे मन !
इन गूंगे संशयों
अधूरी शंकाओं
बहरे प्रश्नों का क्या होगा ?
मेरी अस्वीकृता स्वीकृति का क्या होगा ?
क्या होगा ?
इतिहास
व्यक्ति को व्यक्ति नहीं
शस्त्र मानता है
अपने अन्धे उद्देश्य पूर्ति में।
उसकी परिभाषा में वह
निमिति है
शक्ति नहीं।
युग के हाथों में
केवल बाधित है

होने के लिए
बनने के लिए नहीं।
ओ मेरे गूंगे संशयों !
अधूरी शंकाओं !

बहरे प्रश्नों !
इन इतिहासी पक्षघाती वायुओं को
यह कहकर स्वीकारा
अब मैं निर्णय हूँ
सब का
अपना नहीं।
मुझमें
कल का युद्ध
आज ही सम्भावित हो चुका।
मुझमें
जो शान्ति चाहता था
तापसवेशी मुझमें
कल का युद्ध
आज ही सम्भावित हो चुका।
मध्य रात्रि के इस निर्णय से
जाने कितने सूर्य
आज ही
कल के लिए मर चुके
जाने कितने अनागतों दिवसों की
घायल हँसियाँ
रोती रहीं रात भर।
एकत्रित इस जन समूह के सीने में
इतिहास
खंग-सा घोप दिया मैंने
मध्यरात्रि के इस निर्णय ने
मुझमें कल का युद्ध
आज ही संभावित हो चुका।
रक्त सने हो गये आज ही
हाथ-माथ ये।
अब मैं निर्णय हूँ
सब का
अपना नहीं।
अभी पार्थिव पूजन परान्त
सेवाएँ, रथ, घोड़े, हाथी सब
युद्ध यात्रा पर चल देंगें।
लेकिन
क्या कल
उसके बाद के कल
उसके बाद के भी अनागत कलों तक

क्या कोई साक्षी यहाँ छूट पायेगी ?
उन मुझे जैसे
इतिहास पक्षघाती आने वालों के लिए कि
किसी ने
कभी विगत में भी
प्रश्न किए थे
शंकाएँ की थीं
मिनाकजयी ने
संशय की प्रत्यंचा को
असफल साधा था
औ’ उठाकर रख दिया था अपना
व्यक्ति-धनुष
यह कहकर
अब मैं निर्णय हूँ
सबका
अपना नहीं।
मुझसे मत प्रश्न करो
ओ मेरे विवेक !
मुझसे मत प्रश्न करो।
न आकाश
न उसके देवता और
न देवताओं के देवता
किसी के पास
हाँ किसी के पास
प्रश्नों के उत्तर नहीं हैं ।
ये सिद्धियाँ
अप्सरियाँ

देव लोक
यज्ञ-लक्ष्मी
उत्तर नहीं प्रश्नों के
केवल प्रलोभन हैं ।
अपना विवेक सौंप देने के लिये
केवल प्रलोभन हैं ।
अपना विवेक सौंप देने के लिये
केवल प्रलोभन हैं।
इसीलिए मत प्रश्न करो
ओ मेरे विवेक !
मुझसे ही नहीं
किसी से भी मत प्रश्न करो ।
आत्महनन से कहीं अच्छा है
ज्वारों को भेदते हुये
खड्ग से पाताल चीर दें ।
यदि एकान्त सत्य को समर्पित कर सकना
संभव नहीं तो

मेरे विवेक !
अच्छा है
दिशाघाती प्रलाप बन
शिलाओं के अँधेरों में
इतना बजते चले जाएँ
जिसे सुन भूकम्प भी बहरे हो जाएँ
लेकिन
मुझसे मत प्रश्न करो ।
मध्यरात्रि के इस निर्णय ने
ज्वालामुखियों को जगा दिया
मणि खोये साँप-सा
समय—
क्वचित
युद्ध के लिये ललकार रहा
भीतर
अपने ही भीतर
सबके भीतर ललकार रहा

प्रश्नों की बेला अब नहीं रही
युद्ध की वास्तविकता
सूर्योदय ला रहा ।
कल के सूर्यास्त को
हाय
कल तक का शुभ सौंप चुका ।
अब केवल
आक्षितिज
सेना की पगध्वनियाँ
रणनिनाद भेरियाँ
युद्धघोष झँडियाँ।
युद्ध करो
ओ मेरे विवेक !
मुझसे मत प्रश्न करो
प्रश्नों की बेला अब नहीं रही
कर्म करो ।
क्या हो
क्या न हो कि
सीमायें शेष हुईं।
अब मैं निर्णय हूँ
जिसे होना है
खड्ग और बाणों के द्वारा
जिसे होना है ।
विचारों में जो हो चुका
उसे अब भुजाओं से होना है ।
ओ मेरे विवेक !
अब यह प्रश्न ही नहीं रहा कि

युद्ध के बाद होगी
शान्ति ।
जबकि संभव है
युद्ध ही युद्ध, का उत्तर हो
या यह भी संभव है कि
शान्ति

कवितान्तर (कविता-खंड) पृष्ठ-122

युद्ध के सत्य की एक चेष्टा हो ।
ओ मेरे विवेक !
मुझसे मत प्रश्न करो
संशय की बेला अब नहीं रही ।
अन्तरीपजल में
सूर्योदय साक्षी है
संशय की बेला अब नहीं रही |
अब मैं केवल
प्रतीक्षा हूँ
कवचित कर्म हूँ
प्रतिश्रुत युद्ध हूँ
निर्णय हूँ सबका
सबके लिए ।
केवल अपने ही लिए
सम्भवतः ही नहीं ।
नहीं ।
नहीं ।

कवितान्तर (कविता-खंड) पृष्ठ-123

❖

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

जन्म 15 सितम्बर 1927 ई0 को बस्ती में हुआ । बचपन आर्थिक संघर्ष से उत्पन्न पारिवारिक अशान्ति में बीता। माता-पिता दोनों अध्यापक थे। शिक्षा बस्ती, वाराणसी और इलाहाबाद में हुई। सन् 1949 ई0 में इन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम0 ए0 किया। स्कूल-मास्टरी, क्लर्की और आकाशवाणी के दिल्ली, प्रयाग, लखनऊ, भोपाल आदि केन्द्रों से सम्बद्ध होने के बाद सम्प्रति साप्ताहिक 'दिनमान' के सम्पादन-विभाग में कार्यरत। रूसी सरकार के आमंत्रण पर 'पुश्किन समारोह' में भाग लेने के लिए 1972 में रूस की यात्रा की।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के काव्य का मुख्य स्वर परिवेश सम्पृक्त मानवीय करुणा है। फिर भी कवि का स्वर आस्थावान तथा जीवन के प्रति सम्पूर्ण आसिक्त का है। अपने आस-पास के वातावरण के प्रति सर्वेश्वर अत्यन्त सजग रहे हैं विशेषकर ग्राम्य प्रकृति के वर्णनों में। उनकी रचनाओं में लोक सम्पृक्ति का गहन भाव मिलता है। करुणा के अलावा सर्वेश्वर की कविता की दूसरी विशेषता उनकी व्यंग्य-दृष्टि है। उनका व्यंग्य शान्त लेकिन चेतना को झकझोरने वाला होता है। 'काठ की घंटियों' से लेकर 'गर्म हवाएँ' तक व्यंग्य का यह विशिष्ट रूप द्रष्टव्य है। कई दृष्टिव्यों से सर्वेश्वर अत्यन्त ही संवेदन-शील कवि हैं। कवि की यह संवेदनशीलता उसकी कहानियों तथा उसके लघु उपन्यास 'सोया हुआ जाल' में भी वर्तमान है। सर्वेश्वर अपनी सहज एवं मार्मिक अभिव्यक्ति के लिए चर्चित है। जिन कवियों की कविताओं से 'नई कविता' आन्दोलन को प्रेरणा एवं आधार प्राप्त हुआ, उनमें सर्वेश्वर का स्थान प्रमुख है। आकाशवाणी दिल्ली में तथा 'दिनमान' के संपादन-कार्य में अज्ञेय के निकट सम्पर्क में रहे किन्तु फिर भी अपने निजी कवि-व्यक्तित्व का अक्षुण्ण बनाये रहे यह बात कम महत्व की नहीं है। दिनमान में आपका 'चर्चे और चर्खे' कॉलम विशेष चर्चित रहा। सन् 1984 में आपका निधन हो गया।

कवितान्तर (कविता-खंड) पृष्ठ-124

कृतियाँ—

कविताएँ— तीसरा सप्तक (1959) में संकलित कविताएँ, काठ की घंटियाँ (1959), गद्य-पद्य रचनाओं का संकलन, बाँस का पुल (1963), एक सूनी नाव (1966), गर्म हवाएँ, क्या कह कर पुकारूँ।

नाटक— बकरी।

कथा-साहित्य— पागल कुत्तों का मसीहा

बाल-साहित्य— बालकोपयोगी कविताएँ आदि।

❖

गरीबी हटाओ

'गरीबी हटाओ' सुनते ही—
उसने मिट्टी से अपने बाल धोये
और पालतू बंदर के सामने बैठ गयी
जो उसके जुएँ खाने लगा।
फिर उसने अपनी लुगरी
घाट के पत्थर पर खूब पटकी
जब तार-तार हो गयी
और मैल झंडे की शकल में बह निकला
तब वह धूप में तन कर खड़ी हो गयी,
उसका आंचल किले पर लगी
शत्रु की सीढ़ियों की तरह
उस पर टिका था
जहाँ से वह समृद्धि को चढ़ते देख रही थी।
'गरीबी हटाओ' सुनते ही—
सबके सब फटे जूते सिलवा
और चप्पलों में कील जड़वा चल दिये
काफी चल लेने के बाद
जब वे सोचने बैठे— किधर जायें
तब तक उनके जूते फिर टूट चुके थे
और वे नंगे पैर थे मोची की तलाश में।
'गरीबी हटाओ' सुनते ही—
उन्होंने एक बूढ़े आदमी को पकड़ लिया
जो उधर से गुजर रहा था
और उसकी झुर्रियाँ गिनने लगे,
तेईस वर्ष गिनने के बाद
जब वे हिसाब में भटक गये
तब उन्होंने फिर से शुरूआत की

तब तक उनकी आँखों की रोशनी कम हो गयी थी
भौहों पर सूरज डूब गया था
उन्होंने बूढ़े से पूछा—
'क्या वह मशाल ला सकता है'

जब वह हिला-डुला नहीं
एक तरफ को लुढ़क गया
और वे अखिरकार उसे ही मशाल की तरह
ले चलने की सोचने लगे
तब उन्हें मालूम हुआ
उनके कंधों पर मांस नहीं है
और उन्हें मुर्दागाड़ी का इंतजार करना है।
'गरीबी हटाओ' सुनते ही—
वे कब्रिस्तानों की ओर लपके
और मुर्दों पर पड़ी वे चादरें उतारने लगे
जो गंदी और पुरानी थीं
फिर वे नयी चादरें लेने चले गये
जब लौट कर आये
तो मुर्दों की जगह गिद्ध बैठे थे।
'गरीबी हटाओ' सुनते ही—
वे पिचके पेट पर तकिये बाँध
घास के मैदान में खड़े हो गये
अपना आधा जिस्म गाय
और आधा जिस्म घोड़े की पूँछ में बाँध कर
सारे कछार में घिसट लेने के बाद
जब वे रुके
तब उनकी बत्तीसी झर चुकी थी
और वे गरम पानी खौला रहे थे।
'गरीबी हटाओ' सुनते ही—
वे एक ऊँचे पेड़ पर चढ़ने-उतरने लगे
कभी सिर नीचे होता और पैर ऊपर
कभी पैर ऊपर होता और सिर नीचे
कुछ दिनों बाद जब सिर और पैर
दोनों का एहसास जाता रहा

तब वे उस पेड़ की खोखल में फँस गये
जहाँ एक पुराने साँप ने अण्डे दे रखे थे
जो फूटने ही वाले थे |
'गरीबी हटाओ' सुनते ही—
वे अँधे कुओं में उतर गये
और उन्हें छानने लगे
ईंट, कंकड़, टूटे घड़े, जंग लगे लोटे
जमा कर लेने के बाद
जब वे कीचड़ से लथपथ बाहर आने को हुए
तब उन्हें उपाधियों से अलंकृत किया जने लगा
और वह रस्सी काट दी गयी
जिसके सहारे वे कुओं में उतरे थे |
'गरीबी हटाओ' सुनते ही—
वे एक बहुत बड़ी रोटी बेलने लगे
काफी बेल लेने के बाद

उन्हें पता चला—तवे छोटे हैं
और चूल्हे नदारद
फिर वे हाथ हाथ्पर हाथ रख कर बैठ गये
जब आटे में फफूंद लग गयी
तब वे उस फफूंद से दवाइयाँ तैयार करने की सोचने लगे
जिनसे भूख का इलाज हो सके
'गरीबी हटाओ' सुनते ही—
उन्होंने कीड़े पकड़े
और गंदी बस्तियों में छोड़ दिये
और बाहर छोलदारियों में बैठ
उनके वापस लौटने की प्रतिक्षा करने लगे,
जब कीड़े फूलने लगे
और लोग गंदी बस्तियाँ छोड़ भागने लगे,
तब वे छोलदारियाँ उठा चल दिये |
'गरीबी हटाओ' सुनते ही—
उन्होंने बड़े-बड़े नक्शे बनाये
आँकड़े इकट्ठे किये
और उन्हें रटने लगे,

नक्शों की वर्दी पहन
जब वे एक तार में खड़े हुए
औरा बैंड बजने लगा
तब उन्होंने कवायद शुरू की
और एक ही जगह पर पैर पटकने लगे।
'गरीबी हटाओ' सुनते ही—
वे हर घायल कान को अपनी जबान से चाटने लगे
और ठीक उनके नाप के शब्द बोलने लगे
जब कान छोटे होते शब्द छोटे कर देते
जब कान बड़े होते शब्द बड़े कर देते
इस खींचातानी में शब्द टूट गये
और पहचान से परे हो गये
फिर उन्होंने अपनी जबानें सिल लीं
और कानों का पटाने के लिए
रुई की खेती करने लगे।

धीरे-धीरे

भरी हुई बोतलों के पास
खाली गिलास-सा
मैं रख दिया गया हूँ
धीरे-धीरे अँधेरा आयेगा
और लड़खड़ता हुआ ।
मेरे पास बैठ जायेगा ।
वह कुछ कहेगा नहीं
मुझे बार-बार भरेगा
खाली करेगा,

भरेगा-खाली करेगा,
और अन्त में
खाली बोतलों के पास
खाली गिलास-सा
छोड़ जायेगा।
मेरे दोस्तों !

तुम मौत को नहीं पहचानते
चाहे वह आदमी की हो
या किसी देश की
चाहे वह समय की हो
या किसी देश की।
सब कुछ धीरे-धीरे ही होता है
धीरे-धीरे ही बोतलें खाली होती हैं
गिलास भरता है
हाँ, धीरे-धीरे ही
आत्मा खाली होती जाती है ।
आदमी मरता है |
उस देश का मैं क्या करूँ
जो धीरे-धीरे लड़खड़ता हुआ
मेरे पास बैठ गया है।
मेरे दोस्तों !
तुम मौत को नहीं पहचानते
धीरे-धीरे अँधेरे के पेट में
सब समा जाता है
फिर कुछ बीतता नहीं
बीतने को कुछ रह भी नहीं जाता
खाली बोतलों के पास
खाली गिलास सा सब पड़ा रह जाता है—
झण्डे के पास देश
नाम के पास आदमी
प्यार के पास समय
दाम के पास वेश,
सब पड़ा रह जाता है
खाली बोतलों के पास
खाली गिलास- सा
"धीरे-धीरे" –
मुझे सख्त नफरत है
इस शब्द से।
धीरे-धीरे ही घुन लगता है

अनाज मर जाता है
धीरे-धीरे ही दीमकें सब कुछ चाट जाती हैं
साहस डर जाता है।
धीरे-धीरे ही विश्वास भी खो जाता है

संकल्प सो जाता है।
मेरे दोस्तों !
मैं उस देश का क्या करूँ
जो धीर-धीर
धीरे-धीरे खाली होता जा रहा है
भरी बोतलों के पास
खाली गिलास-सा
पड़ा हुआ है।
धीरे-धीरे
अब मैं ईश्वर भी नहीं पाना चाहता,
धीरे-धीरे
अब मैं स्वर्ग भी नहीं जाना चाहता,
धीरे-धीरे
अब मुझे कुछ भी नहीं है स्वीकार
चाहे वह घृणा हो चाहे प्यार।
मेरे दोस्तों !
धीरे-धीरे कुछ नहीं होता
सिर्फ मौत होती है,
धीरे-धीरे कुछ नहीं आता
सिर्फ मौत आती है,
धीरे-धीरे कुछ नहीं मिलता
सिर्फ मौत मिलती है,
मौत—
खाली बोतलों के पास
खाली गिलास-सी ।
सुनो,
ढोल की लय धीमी होती जा रही है
धीरे-धीरे एक क्रान्ति यात्रा
शव-यात्रा में बदल रही है ।

सडाँध फैल रही है—
नक्शे पर देश के
और आँखों में प्यार के
सीमान्त धुँधले पड़ते जा रहे हैं
और हम चूहों-से देख रहे हैं।

उड़ने दो मन को

हवा के झोकों को
टोकरों की तरह सिर पर रखे
नाच रहे हैं पेड़—
झुको मत व्यथा के भार से ।
चुलबुली हैं पत्तियाँ
सिर मटकाती हुई गिरती हैं।
चाँदनी होठों पर
एक बँधी नाव की

उँगली रखी खड़ी है,
फिर भी नदी बोले ही जाती है
'कहते चलो रुको मत
उम्र की मार से।'
आकाश की तख्ती पर
सितारों की बारहखड़ी लिख कर
चाँद की दावात को लात मार लुढ़का
भाग जाता है रात के मदरसे से
शरारती सूरज,
और चिड़ियाँ सुबह तक
हिसाब जोड़ती रहती हैं।
बस्ते में भर कर
सीपियाँ और चमकीले पत्थर
दिन बैठा है नदी के तट पर,
खेतों की मेड़ों पर
फसलें उछालती-इठलाती है धूप
पगडण्डियों की तरह

छोड़ दो इस तन को
कुछ दूर तक ही सही
दौड़ने दो मन को ।
आखिर किसी बस्ती तक पहुँच कर
लौट आयेंगे हिरन ।

बुद्धिजीवी

एक थे हाँ-हाँ
एक थे नहीं-नहीं
जहाँ-जहाँ गया मैं
मिले मुझे वहीं वहीं
एक दिन मैंने उन्हें
अपनी मेज की दराज दिखायी
कहा: "देखो अब यहाँ
चूहों का राज है भाई।
इधर-उधर से जो भी मिलता है
यहाँ ले आते हैं,
निरापद हो खाते हैं,
उसे ही देखकर लगता है
पड़ोस में क्या-क्या पकता है।"
हाँ-हाँ की गरदन हिली ऊपर-नीचे
नहीं-नहीं की दायें-बायें ।
मैंने कहा: "आपको क्या बतायें
अब देखिए कल जहाँ प्रेमपत्र थे
उनमें दबे फूल थे,
आज वहाँ कुतरन है
उनमें दबी मेंगनी है।

एक नक्शा सँभाल कर रखा था मैने देश का
उस पर फैली हुई पीली बदबूदार पेशाब।
इतिहास की यह पोथी
मेरे बाप ने दी जो थी
उसके सफे के सफे चाट गये हैं,

कोई सिलसिला जोड़ना
सिर फोड़ना है ।
यह था मेरा वंश-वृक्ष
इसकी लिपटन में पड़ा हुआ है
एक हड्डी का टुकड़ा
जाने किसका है कहाँ से लाये हैं।''
हाँ-हाँ की गरदन हिली ऊपर-नीचे
नहीं-नहीं की दायें-बायें।
मैंने कहाः "आपको क्या-क्या दिखाएँ
रोजनामचा बीच-बीच में इस कदर कुतरा है
कि लगता है आयें-बायें।
अब देखिए। एक पंक्ति थी—
'विवाह बन्द कमरे की नींद है
प्रेम खुली हवा में एक झँपकी'
पढ़िये आप—"वाह बन्द कमरे की नींद''
और कुछ नहीं रह गया बस 'झँपकी।'
क्या-क्या सुनाएँ ?
आप बुद्धिजीवी हैं
कोई उपाय बताएँ ?
हाँ हाँ की गरदन हिली ऊपर-नीचे
नहीं-नहीं की दायें-बायें।
मैंने कहा, 'छोटी होती मेज
तो मैं ही उलट-पुलट कर
कुछ ठोंक-पीट करता,
यह पुश्तैनी मेज है, बहुत भारी है
मुझ अकेले आदमी की यही लाचारी है,
आप दोनों साथ दें
तो कुछ करूँ
हिम्मत भरूँ।
आप जानते ही हैं
आज के विश्वकर्मा तो सभी ऐसे हैं युगधर्मा
नया रचते हैं, मरम्मत नहीं करते।
मैं जानता हूँ—

गड़बड़ी ज्यादा नहीं है,
बस वह रास्ता बन्द करना है,
जहाँ से चूहे पैठते हैं।
आइए, जोर लगायें—
हाँ-हाँ गरदन हिली ऊपर-नीचे

नहीं-नहीं की दायें-बायें।
.......और बस हिलती ही रही
मैं तैयार खड़ा रहा
मैंने सोचा कुछ और बताऊँ
मैं चूहों से क्यों नफरत करता हूँ समझाऊँ।
तभी मैंने देखा उनके नथुने फड़के
आँखे मिचमिचायीं,
गालों पर उगने लगे गलमुच्छे
रीढ़ की हड्डी जैसे पिघल गयी
खड़े-खड़े अपने ही पैरों पर गिर पड़े,
फिर सरक कर
दुबक गये यहीं-कहीं ।
एक थे हाँ-हाँ
एक थे नहीं-नहीं।

ईश्वर

बहुत लम्बी जेबों वाला कोट पहने
ईश्वर मेरे पास आया था
मेरी माँ, मेरे पिता
मेरे बच्चे ओर मेरी पत्नी को
खिलौनों की तरह
जेब में डालकर चला गया
और कह गया
बहुत बड़ी दुनिया है
तुम्हारे मन बहलाने के लिए।
मैंने सुना है,
उसने कहीं खोल रखी है

खिलौनो की दुकान
अभागे के पास
कितनी जरा-सी पूँजी है
रोजगार चलाने के लिए।

पंचधातु

मैं जानता हूँ
क्या हुआ तुम्हारी लँगोटी का
उत्सवों में अधिकारियों के
बिल्ले बनाने के काम आ गयी ।
भीड़ से बचकर
एक सम्मानित विशेष द्वार से
आखिर वे उसी के सहारे ही तो जा सकते थे।
और तुम्हारी लाठी ?
उसी को टेक कर चल रही है
एक बिगड़ी दिमाग डगमगाती सत्ता।

और तुम्हारा चश्मा ?
इतने दिनों हर कोई
उसे ही लगा कर
दिखाता रहा है अन्धों को करिश्मा।
तुम्हारी चप्पल ?
गरीबी की चाँद गंजी
करने के काम आ रही है।
और घड़ी ?
देश की नब्ज की तरह बन्द है।
अच्छा हुआ
तुम चले गये
अन्यथा तुम्हारे तन का
ये जननायक क्या करते
पता नहीं ।

जब-जब सिर उठाया

जब-जब सिर उठाया
अपनी चौखट से टकराया
मस्तक पर लगी चोट,
मन में उठी कचोट
अपनी ही भूल पर मैं,
बार-बार पछताया।
जब-जब सिर उठाया
अपनी चौखट से टकराया।
दरवाजे घट गये या
मैं ही बड़ा हो गया,
दर्द के क्षणों में कुछ
समझ नहीं पाया।
जब-जब सिर उठाया

अपनी चौखट से टकराया।
"शीश झुका आओ" बोला
बाहर का आसमान,

"शीश झुक आओ" बोलीं
बाहर का आसमान,

"शीश झुका आओ" बोलीं
भीतर की दीवारें,
दोनों ने ही मुझे
छोटा करना चाहा,
बुरा किया मैंने जो
यह घर बनाया ।
जब-जब सिर उठाया

अपनी चौखट से टकराया ।

दुर्घटना

एक आदृश्य इमारत
मेरे ऊपर गिर पड़ी है
जो “नहीं है” उसके बोझ से
मैं दब गया हूँ।

एक अदृश्य नदी
मझ पर फैल गयी है
जो “नहीं होगा” उसकी धार में
मैं बह रहा हूँ।
एक अदृश्य सड़क
मेरे नीचे से निकल गयी है
जो “नहीं था” उसकी चपेट से
मैं कुचल गया हूँ।

कल रात

कल रात जाने कैसी हवा चली :
विवेक का पीले सान्ध्य फूलों वाला पेपरवेट
खिसक कर गिर पड़ा
दर्द के दबे हुए पृष्ठ
उड़-उड़ कर बिखर गये।
स्मृतियों के भारी
काले कोट का कालर उठाये
शीश थामें बाल उलझाये
बेचैन थकी हुई रात
मेरी पसलियों पर
कोहनियाँ गड़ाये बैठे रही
और—
मेरे भारी अन्तर से
दर्द के बिखरे हल्के पृष्ठों को
धीरे-धीरे नत्थी करती रही ।
सुबह होते-होते
आकाश की नीली पिनकुशन खाली थी—
तारों की एक-एक आलपीन चुक गयी थी !

दो अगर की बत्तियाँ

इस सफेद दीवार पर
हमारी-तुम्हारी परछाइयों ने मिलकर,

आड़ी-टेढ़ी काली रेखाओं की

जो यह उलझी हुई आकृतियाँ बना रक्खी हैं,
ये अभी मिट जायँगी—
सच मानों-अभी मिट जायँगी
कमरे के कोण के उस दीप के बुझते ही ।
सत्य न तो वह प्रकाश है
और न ये आकृतियाँ ही,
सत्य न तो प्रेम है
और न वासना ही,
सत्य हैं हम-तुम :
दो अगर की बत्तियाँ;
सत्य है वह आग
जो हमें जला गयी है,
सत्य है वह सुगन्धि-ज्वार
जो चारों ओर फैल रहा है
इस अँधेरे का फूल बनाने की साधना लिये हुए,
सत्य है वह उमंग, वह उत्साह
जिसने हमें—तुम्हें सदैव पृथक रक्खा,
जिसने हमारी-तुम्हारी, बत्तियों के ऐंठे प्रश्न-चिह्न-सी,
ये ठण्डी राख की केंचुलें उतरवा दीं,
और आज वहाँ ले जाकर मिलाया है
जहाँ हम—तुम कभी पृथक नहीं किये जा सकते
क्योंकि अब हमारा-तुम्हारा मूल्य
अपने लिए नहीं
दूसरों के लिए है।

काठ की घंटियाँ

बजो
ओ काठ की घंटियो।
बजो
मेरा रोम-रोम देहरी है
सूने मन्दिर की—

सजो'
ओ काठ की घंटियो,
सजो |
शायद कल,
टूटी बैसाखी पर चलकर
फिर मेरा खोया प्यार
वापस लौट आये ।
शायद कल,
प्रकाश स्तम्भों से टकराकर
फिर मेरी अन्धी आस्था
कोई गीत गाये ।
शायद कल,

किसी के कन्धों पर चढ़कर
फिर मेरा बौना अहं
विवश हाथ फैलाये ।
जितनी भी ध्वनि शेष है
इन सूखी रगों में,
तजो,
ओ काठ की घंटियो
तजो ।
शायद कल,
मेरी आत्मा का निष्प्राण देवता
अपने चक्षु खोल दे !
शायद कल
हर गली अपनी घुटता धुँआ
मेरी और रोल दे।
शायद कल,
मेरे गूँगे स्वरों के सहारे
कोटि-कोटि कण्ठों की खोयी शक्ति बोल दे।
दर्द जितना भी
फूट रहा हो, समेट कर,
मँजो,
ओ काठ की घंटियो,

मँजो ।
बजो,
ओ काठ की घंटियो,
बजो ।
मेरा रोम-रोम देहरी है
सूने मन्दिर की—
सजो,
ओ काठ की घंटियो,
सजो |
बजो,
ओ काठ की घंटियो !
बजो।

❖

लक्ष्मीकान्त वर्मा

जन्म 1922 ई0 में बस्ती में हुआ। शिक्षा उर्दू-फारसी के माध्यम से प्रारम्भ हुई लेकिन लिखा हिन्दी में ही। जीवन के प्रारम्भिक वर्ष राजनीतिक दौर की ओर भेंट हो गए। तत्पश्चात्, चित्रकला, रंगमंच, उर्दू गजल आदि सभी ललित विधाओं में रूचि जागृत हुई। कविता के अलावा गद्य की विभिन्न विधाओं में भी इन्होंने समान रूचि से लेखन कार्य किया। 'नये पत्ते', 'निकष' एवं 'क ख ग' के संयुक्त संपादन में अपनी संपादन प्रतिभा का भी उचित परिचय दिया। तीस वर्षों तक स्वतन्त्र लेखन के पश्चात् अब आप समाजवादी मुखवत्र 'जन' के संपादन में व्यस्त। 'परिमल' के पुराने सदस्यों में प्रमुख और वर्तमान संयोजक।

लक्ष्मीकान्त वर्मा की काव्य एवं गद्य कृतियों में सामाजिक विषमताओं का कटु स्वर उभर कर व्यक्त हुआ है। अपने आस-पास के वातावरण की सच्चाई को उन्होंने कभी सादे ढंग से तो कभी फंतासियों के माध्यम से नये रूप-विधान में प्रस्तुत किया है।

जीवन की विसंगतियों से तीव्र रूप से जुड़े होने के कारण उन्हें कविता का परम्परागत रूप कभी भी स्वीकार नहीं हुआ। कदाचित् इसीलिए उन्होंने साहित्य में 'लघु मानव' को विशेष रूप से प्रतिष्ठित किया। 'नयी कविता' के प्रतिमान' में, नयी कविता के विषय में जो सैद्धान्तिक स्थापनाएँ की गयी हैं उसमे 'लघु मानव' की मान्यता प्रमुख है और वह उनके काव्येतर साहित्य में भी प्रधान रूप से मिलती हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा जी का विश्वास है कि आधुनिक कविता में पौराणिक प्रतीकों का सही प्रयोग व्यंग्यात्मक रीति से ही हो सकता है और उन्होंने वैसा करने की चेष्टा भी की है। नयी-कविता-आन्दोलन के अनन्तर अनेक नामधारी आन्दोलनों की जो बाढ़ आयी उसने लक्ष्मीकान्त जी को भी प्रभावित किया और वे 'ताजी कविता' के चलाने के पक्षधर बन गए परन्तु उसमें सफल न हो सके।

कवितान्तर (कविता-खंड) पृष्ठ-142

प्रकाशित कृतियाँ

कविताएँ : धुएँ की लकीर (सम्मिलित संग्रह), अतुकान्त (1962)।

निबन्ध : नये प्रतिमान, पुराने निकल, नयी कविता के प्रतिमान।

उपन्यास : खाली कुर्सी की आस्था, सीमान्त के बादल टेराकोटा, आदमी का जहर, सफेद आकृतियाँ।

कहानी : नीली झील का सपना।

नाटक : अनेक रेडियो एकांकी तथा संचयी नाटक भी।

कवितान्तर (कविता-खंड) पृष्ठ-143

❖

ठण्डा स्टोव, चाय का टिन और खाली बोतल

स्टोव आज ठंडा है
हलकी सतरंगी चूड़ियों की छाया
धानिया चूनर में लिपटी तुम्हारी काया : लक्ष्मी, सावित्री, दमयंती,
बेटर हाफ
केश विच्छिन्न : आर्द्रा के बादल से : नम सीले, घर ऊपर ऑफ
धुयें से भरी आँखे : स्वाती-सा पलकों में कृपालु : हँस के पंखों पर
साफ-साफ
पसीनें की बूँदों में लिपटा सुहाग-टीका : ऊषा, मंजूषा, जैसा अरुण
हिल गल जाय
माँग की सिन्दूरी लकीर : प्रवाल दीप जैसे पिघल जाय
लाल डोरियों में खिची पुतलिय : बेबस मजबूर : जैसा सीता की
आँखे अशोक वन में
रात की लोरियाँ तुम्हारी प्रिय : जैसा क्वार की ओस : अंकुर के
मस्तक पर मणि-मुकुट
तुम
इतनी खामोश रस में
सच बोलो
बस
महज इतनी बात मैं जानता हूँ
आज वह बीता रस, पिया विष, जिया दंश
तरल हो गया कहीं
क्योंकि : महीने की आखिरी तारीख है हर दिन
जिन्दगी यूँ ही बीती है प्रिय .. छिन-छिन
एस्थेमा के रोगी-सा यह स्टोव
और उसकी आवाज
दुर्घटनाओं की लम्बी तारीख अनगिन
माँ.......... चा ऽ ऽ ऽ की ऽ ऽ ऽ प्याली

पा.......... पा ऽ ऽ ऽ की जेब खाली

स्ले..........ट की..........पर्त काली
ले ऽ ऽ ऽ ट
फी ऽ ऽ ऽ
नाम स्कूल से कट गया
माँ—ऽ ऽ ऽ
फी—ऽ ऽ ऽ
स—ऽ ऽ ऽ
श.............श ....श ....
स्टोव आज ठण्डा है
पापा की कविता जिन्दा है
चा का टिन............खाली
खाली मर्यादा की लाज-सा
केवल कल का प्रतीक-सा
आज वह महर्षि वाल्मीकि है
खाली है
जाली है
उस पर का नारंगी रंग
चाँदी का वर्क
एयरटाइट पैकिंग
स्पेशल लेवल
सच्चा ट्रेड मार्क
'नक्कालों से सावधान'
छिः
ये उदास घाटी में भटकती बूँदे
डगमग कदम प्रिय
भींगा आँचल
घुटव में घुटती नींदे
क्योंकि मैं,
जो तुम्हारा पति: सत्यवान
लक्ष्मीकान्त
राम
राम-राम
महज कलम की कुदाली से

चाय की खेती कैसे करूँ
विधि वाम !
माँ ऽ ऽ ऽ....... ऽ ऽ ऽ....... ऽ ऽ ऽ.......
रात में राजकुमार था
हिरन मार लाया था
शेर के दाँत तोड़ लाया था
मैं हूँ भरत
तुम शकुंतला
कहाँ है दुष्यन्त माँ ?

यह है तीर तरकस में
सभी विष के बुझे खाली
श ....श ....श .... श ....
चाय का टिन आज खाली है
साहित्य-दुर्वासा का महा शाप
ओ भरत
सहन कर
चुपचाप ?
और शराब की बोतल
मद्य-निषेध का सरकारी पोस्टर
शराबी पिता नशे में चूर मदहोश
बच्चे सहमें......... सिमटे
माँ ....
माता .... जीर्ण वस्त्रा
मुक्ता अलका
उदास
खामोश..........
हर पहली तारीख.... एक चीख
हर आखिरी तारीख—एक भीख
हर मास का अलविदा—विदा
हर सुबह एक लोक
घनी शाम का प्रतीक
ओ प्रिय
मै बिना बोतल का शराबी

मदहोश कलाकार सही
काया-कल्प की आशा से
कर रहा उपवास सही
तुम दमयन्ती-सी
सो जाओ निर्जन वन में
मैं जो हार चुका सब कुछ नशे में
मछली नहीं भूनूंगा
सारथी नहीं बनूंगा
मद्य निषेध से लेकर-मेरे इस नशे तक
मैं हूँ
मैं एक छोटा किन्तु जागरूक अस्तित्व
मैं ही नल हूँ
अजगर-सा चाय की पत्तियाँ निगलता हूँ
मैं ही अपने विष से स्टोव को ठण्डा कर जीता हूँ
मैं ही शराब की बोतल ले
रामायण से गीता तक जीता हूँ
मैं लक्ष्मीकान्त, सत्यवान, नल, दुष्यन्त, आक्रान्त
मैं जो क्षण-क्षण जन्मता, मरता हूँ
मैं जो दुर्वासा का शाप पीकर फिर भी नहीं भूलता
तुम्हें

तुम्हारे भरत को
उस विष-बुझे तीर को
सुहाग की पीर को
ओ प्रिय : मैं ही हूँ भुक्त और भोक्ता
मैं ही हूँ भुक्त और भोक्ता
मैं ही हूँ साक्षी और साक्ष्य ?
दुष्यन्त की अँगूठी को
इस युग में मछलियाँ नहीं निगलती
वह बन्धक धरी जाती हैं
कोई मछुआ
मछली के पेट से अँगूठी ले राजद्वार नहीं जाता
भगवान का दिया कभी नहीं लुटाता
लुटाता हूँ मैं :
भूख

प्यास
दैन्य
रोय
केवल इसलिए
कि तुम्हारी सतरंगी चूड़ियाँ
धानियाँ चूनर
माँ का पिघलता प्रवाल-द्वीप
सुहाग का टीका
अलस पलक
सघन केश
ये सब के सब
रोमांस और रोटी तक नहीं रहते
हृदय और दृष्टि तक नहीं बसते
तूफान से उठते-जीते
ओ प्रिय
ये मुझे धरती की सोंधी महक
धुएँ की वृत्ताकार सीमा से दूर
कहीं छोड़-छोड़ आते हैं
यह ठण्डा स्टोव
खाली चाय का टिन
शराब की बोतल
ये सब के सब
छोटे ही सही
छोटी प्रेरणाओं में प्राण दे जाते हैं
स्टोव यदि आज ठण्डा है
तो कहीं आँच यह मन की
इतनी उर्वरा है
दर्द को जन्म दे
जो दे जाती है सहन
सम्बोधन

समर्पण
मौन
तर्पण !

एक मृतात्मा की वसीयत

ओ माँ !
यह सब तुम्हारे स्नेह के आधार पर जीते हैं
कड़ुवाहट, तल्ख़ी, तीखी सारी बेबसियाँ ।
महज इस खाल में भूसा भर कर
आँखों में कौड़ियाँ लगा
कानों में सीपियाँ लगा
केवल इसीलिए मुझे तुम्हारे पास खड़ा करते हैं
ताकि तुम सड़ी, सूखी, प्राणहीन खलरी चाटो
अपना अमित स्नेह ले
अपनी बेबस आँखों से मुझे ताको
और भर दो
इन सारे के सारे स्नेह के पिपासे मुर्दों के स्नेह-पात्र
इसलिए कि तुम माता हो
शुचि स्नेहयुक्त स्निग्ध पयमयी, रसपूर्ण वात्सल्य की प्रतिमा हो
ओ माँ
यह सब तुम्हारे स्नेह पर जी लेंगे
क्योंकि ये महज जीते हैं
ये रहते नहीं !
भर दो
इस त्वचा की मृतात्मा की सूखी ठाठर में
वह घास-पात, कूड़ा-कबाड़ सब कुछ भर दो
लगा दो इन नकली कौड़ियों की आँखें
मेरे माथे के नीचे के गोलकों में लगा दो
कानों में सीपियाँ
खपाचियाँ पैरा में
तरकोल, नेप्थलीन की गोलियाँ भर दो
मेरे इस हृदयहीन, धमनीहीन, स्नायुहीन काया में
सब कुछ भर दो
ताकि मैं रस-स्निग्ध पयमयी माता के निकट
अपनी चेतनाहीन पूँछ को एक स्थिति में उठा
उसके वात्सल्य को, हृदय को, आकर्षण को, चेतना को

सबको उभार दूँ
और तुम इस मुरदे के उपजाए स्नेह को निचोड़ कर
जीवित रहो
जिन्दा रहो !
ओ माँ !
सच मानों, मुझे दीमक नहीं छुयेंगे
नहीं पास आयेगी चींटी, चहा—

नहीं कुतरेगा बहेलिए का कुत्ता मुझे
नहीं देखेगा कोई भी हिंसक
क्योंकि मैं मरकर जीवित का अभिनय हूँ
केवल एक स्थिति हूँ
जिस पर रचना की देहली माथा टेक,
हार मान सो जाती है
इसलिये दो
ओ पायमयी, रस-स्निग्ध ज्वारों को स्रोतस्विनी
इन सबको दो मेरा वह स्नेह
जिससे मैं वंचित हूँ
क्योंकि मैं मुर्दा हूँ
केवल मुर्दा !

यज्ञ मैंने भी किये थे

यज्ञ मैंने भी किये थे
मानसरोवर के हंसों को मैंने भी बुलवाया था
पर मैं क्या करूं ?
वे मोती जिन्हें हंस चुनते हैं
जिन्हें मैंने असली समझ सँजोया, सँवारा, रखा, वे सब
नकली निकल गये
सच मानो ओ गुरुजन
यज्ञ मैंने भी किया था !
घास की रोटी अब बिल्ली नहीं खाती
चूहे बहुत हैं
उन्हीं के पीछे दौड़ी वह न जाने कहाँ चली जाती है

मैं क्या करता ?
तपस्वी तो मैं भी था
घास की रोटी तो मैंने भी बनायी थी
पर चूहों की नस्ल ने आदमी से बिल्ली तक
महज भटकन ही पैदा की
बिल्ली ने घास की रोटी नहीं खायी
बच्चों को मगर खानी पड़ी
मैं क्या करूँ तपस्वी तो मैं भी था !
भील सब
राजभवन में लोक-नृत्य के लिये चले गये
भामाशाह ने टैक्स से बचने के लिये
दिवालये की सनद ले ली
नहीं तो
ह्विस्की की एक चुस्की
महाशय दयाराम के साथ पीकर
आज मैं भी पंचायत अफसर होता
वैसे कर्मवीर मैं भी था
घर उजाड़ा
अनपढ़ बच्चों को घास-फूस-सा बढ़ने दिया

कमरी ओढ़ जिया
खून का घूँट पिया
किन्तु
बिल्लियाँ जो ड्राइंगरूमों में पलती हैं
आदमी को खाती हैं
चूहों का खाती हैं
घास की विटामिन रहित रोटी
उन्हें पसन्द नहीं
मैं क्या करूँ ?
भीष्म सब
राजभवन में लोक-नृत्य के लिए चले गये
तपस्वी तो मैं भी था !
मसीहा होता मैं
पर क्या करूँ ?

बढ़ई सब 'उड क्रैप्ट टीचर' बन
हड़ताल में लगे हैं
क्रॉस की लकड़ियाँ बेजोड़ पड़ी हैं
वसूले का युग नहीं रहा
युग है क्रैपट का
मैं क्या करूँ ?
सेठ रमणलाल भाई के साथ
खादी की हुण्डियाँ मैंने भी बिकवायी हैं
हैण्ड क्रैप्ट पर लेक्चर दिये हैं
भूदान में शामिल बंजर जमीनें दिलाई हैं
पद-यात्रा के साथ बुद्धि दान भी किया है
मैं क्या करूँ ?
क्रॉस बिना मसीहा कैसे बनूँ
वरना मसीहा तो मैं भी था !
पक्ष से विपक्ष तक सभी मानते हैं
जिस तेल के कनस्तर में चूहे मरते हैं
उसी तेल को गन्धी बन
इनकी फाहों के साथ बेच दिया जाता है
काम यह करतब का
सरकार ने मान लिया
नहीं तो मैं भी विद्रोही था
विद्रोह तो किया है मैंने
यह तो महज एक बात
सरकार यदि न मानती—
तो विद्रोही मैं भी था
मैं क्या करूँ ?
मैं चूहे को चूहा ही कह पाता हूँ
यदि मैं कहता गणपतिवाहन
तो शायद मिनिस्टर होता
ओ गुरुजन !

ओ प्रियवंद्!
ओ सदानन्द!
तपस्वी तो मैं भी था

यज्ञ मैंने भी किये थे
या याज्ञिक
दीक्षित भी था
किन्तु यज्ञ के पुरोहित
सब बन गये कबाड़ी।

मणिधर : विषदंशहीन

यदि उस दवा बेचने वाले ने
मेरे विषभरे दाँत तोड़ डाले
तो मेरा दोष क्या ?
जो तुम सब अपनी-अपनी लाठियाँ ले
ढेले, पत्थर, ईटों का अम्बार ले—
मेरे पास खड़े हो—
मेरे मन पर, शरीर पर
इतने असंख्य घाव करने पर उतारू हो
ताकि मैं पराजित हो
अपना मुँह खोल
तुमको यह दिखला सकूँ—
और विश्वास भी दिला सकूँ
कि मैं विषहीन नपुंसक कीड़ा हूँ
रेंग जाऊँगा इन्हीं नालियों में
चीटियों के लगने पर भी
तड़पूँगा मगर बोलूँगा नहीं!
किन्तु मैं ऐसा भी नहीं करूँगा
अपने प्रत्येक घाव पर
अपने ही रक्त की आहुति दूँगा
तुम्हारे इन हाथों की—
लाठियाँ और उसमें भिंचे हुये पत्थरों को
अपने रक्त का टीका दे
अमर वरदान दूँगा
ताकि तुम्हारा यह भ्रम बना रहे
कि हर रेंगने वाला कीड़ा

(चाहे वह जो भी हो)
विषैला होता ही है।
लेकिन ओ जनसमूह के नायक
क्या करोगे तुम
जब तुम्हारे ही अन्तर का
विषदंश
तुम्हारे तन पर घाव करने को प्रस्तुत हो
विष-वमन करेगा ?

मैं अपने रक्त को तब भी
सार्थक मानूँगा
यदि तुम उस समय
मेरी स्मृति पर
एक क्षण को भी
सब कुछ सहन करने में
समर्थ होगे !
ओ जनमेजय !
मैं उस समय पर कर भी
तुम्हारे आस-पास
जीवित रहूँगा।

मेरा अपराध

मेरा अपराध यह है
कि मैंने कारनिस से गिरे हुये गौरेये के चूजे को
फिर कारनिस पर रख दिया है।
बेतहासा बढ़ती हुई मक्खियों को
कमरे में जाली का दरवाजा लगाकर
बाहर ही ठहरा दिया है।
अनगिनत गालियों, ढेलों और पत्थरों के बीच
अपना रास्ता निकालने की कोशिश की है :
उन लैम्पपोस्टों के नीचे कभी नहीं रुका
जिन पर पागल-से करोड़ों पतंगों की भीड़
आदतन मरने के लिए तत्पर है।

उन चैराहों की भी परवाह नहीं की।
जिन पर बैठकर कुछ मीडियाकर
इन्सानियत के बारे में बात करते हैं।
उन उँगलियों और नुक्कड़ों की भी परवाह नहीं की
जहाँ हर रोशनी की किरन पहुँचते ही बुझ जाती है।
मेरा अपराध यह है—
मैंने बिना सिर उठाये
और किसी चौखटे से टकराये
अपना सिर बचा लिया है।
ताकि वक्त जरूरत काम आये !

इतिहास का कीड़ा

इन्साइक्लोपीडिया के पन्नों में
(दबे हुये कीड़े के आकार-प्रकार)
एक जिस्म कि जिसमें दिल नहीं
उस दिन अचानक पिस गया
एक खून का धब्बा नेपोलियन के मस्तक पर रह गया।
हर कोई जो किताब खोलेगा
उस धब्बेसे घबरायेगा

मगर
यह सत्य है कि जिसने उस किताब को खोला
वह कोई फौजी-जनरल नहीं था
और जो दबकर मर गया
वह हृदयहीन कीड़ा था।

इतिहास सेतु

जब मेंने पुस्तक खोली
मुझसे इतिहास-पुरुष ने कहा
किसे ढूँढ़ते हो : मुझे ? या अपने को ?
मैंने कहा—केवल अस्तित्व को !
उन्होंने एक साथ अपने हाथ में तलवार लेकर कहा—

अस्तित्व मेरा नहीं
उन मूर्खों का है जो मुझे पूजते हैं
मै तो केवल जिया था, मरा था, लड़ा था
भोगा था सुन्दरियों के रूप को, पृथ्वी के गर्भ से निकला था
अदृश्य गोपनीय रत्न
इसीलिए अस्तित्व मेरा नहीं उनका था
जो मेरी जय-जयकार के साथ
केवल तमाशा देखते रहे !
मैंने उनकी जंग लगी तलवार उठायी
उसे छूकर मैंने कहा—'अस्तित्व इनका है'
वे एक साथ बोले : लेकिन मैंने इन्हें चलाया कब
मैंने तो केवल इन्हें लिया था
इसे चलाकर मरने वाले अनाम हैं
उन्हें मैं भी नहीं जानता !
मैंने फिर पुस्तक खोली
देखा :
एक लम्बी चीटियों की पंक्ति
अपने अण्डे लिये पुस्तक के एक सिरे से चढ़कर
दूसरे सिरे पर उतर रही थी
मैं मौन मूक-सा देखता रहा
जैसा किसी ने कहा—
इन पर चढ़ कर यात्रायें की जा सकती हैं
इन्हें वरण कर जिया नहीं जा सकता।

यह महानगर है

यह महानगर है
'समय को दफन कर उसके ऊपर यहाँ का 'क्लॉक टावर'
खड़ा है।'
आस्था को कूड़े में फेंक भव्य मंदिरों में शिला मूर्तियाँ हैं
दृष्टि को दरजी की दुकान में बेच यहाँ हर आदमी चारुशील है
सौन्दर्य की विभूति का लेप किये हर कोई विभूति भूषण है

एक मैं ही यहाँ असम्यक

क्योंकि मैं समय को ‘क्लॉक टावर’ में न देख
स्कूल-कालेज की बसों में
थके लौटते शिशुओं की मन्थर चाल में देखता हूँ
क्योंकि मैं पिता हूँ ....
आस्था को चुपचाप मिल की विश्रान्त घड़ियों में
एक रोटी और दो भूखों में पाता हूँ : क्योंकि मैं बन्धु हूँ
दृष्टि मेरी अपनी है जिसे मैं अनुभूति देता हूँ
और
जिसे मैं पाता हूँ अनवरत श्रमशील जिज्ञासा में : क्योंकि मैं
शंकित हूँ
सौंदर्य की विभूति मुझे मिलती है उनमें
जो दरिद्रता में पलने पर भी
रूपहीन होने पर भी
किसी हारे हुए के घायल कन्धों पर हाथ रख
थपकियाँ देते हैं : क्योंकि मैं सहचर हूँ
और यह महानगर है
जहाँ है सभी सभ्य
असभ्य केवल मैं हूँ
केवल मैं !
क्योंकि मैं पिता हूँ
बन्धु हूँ
शंकित हूँ
सहचर हूँ
असभ्य केवल मैं हूँ !

पिता रस

मैंने तुम्हें दे दिये
अपने सारे संचित स्नेह : ताल के कुइयों से खिले अधखिले दुग्ध-
धवल जुन्हाई से
दे दिये अर्जित वन्दना के क्षण-शंकालु द्विधा से भरे हुए स्नेह सिक्त
शिला खण्ड : सांध्य नभ में एकाकी नखत से !
व्यंजित भावना के व्रण : द्रवित आँसुओं के बीच की रेखा मृदुल

श्रीखण्ड : क्वार में बादल अधकटे-छटे-से,
मैंने तुम्हें दे दिये इसलिए कि तुम वरद पुत्र हो मुझ-जैसे टूटे अस्त-
व्यस्त पिता के
मैंनें तुम्हें दे दिये
वे कटु अनुभव : सम्मान में भी मिली जहाँ अपमान की चुटकियाँ
जैसे तेज छुरी पर धार चढ़ाती ओढ़ती चिनगारियाँ
वे निराश स्मृतियाँ : जब मैंने, तुम्हारी माँ ने केवल घूँट
पानी पी बिता दी है जाने कितनी भूख की गिनतियाँ
जैसे उड़ती हुई फबतियाँ
वे सपने : जिन्हें मैंने आज तक पाले हैं और जीवन भर पालूँगा

वही जाज्वल्यमान बिजलियाँ
जैसे चूल्हे की रोटियाँ
वे गीत गथाएँ : जिन्हें पूरा लिखा है पर पूरा जी नहीं सका हूँ
क्योंकि जीने की फुरसत कहाँ देती हैं दुनिया
मैंने तुम्हें दे दिये ये सब
मैंने तुम्हें दे दिये एक-एक
जितने भी क्षण ये महत्वपूर्ण !
मैंने तुमसे ले लिये
तुम्हारे दूध के दाँतों के बीच की हँसी : कि जिसमें अभावों के होते
हुए भी हम जी सके
पतंग की डगमगाती डोर-से
तुम्हारी कपोलों की लाली : कि जिसमें उषा भी तृप्त हो पल सके
दावाग्नि में चिल्लाते वन-पशु-सी
तुम्हारी शरारत : कि जिसमें तुम मात्र सन्तुलन में बार-बार
आदमी को छोड़ गये
तुम्हारा खेल : कि जिसमें तुम मात्र सन्तुलन में बार-बार
आदमी को छोड़ गये
तुम्हारा खेल : कि जिसमें भूगोल की अक्षांश रेखाएँ पारे की
लकीर-सी मौत भरी
तुम्हारी फरियाद : क्योंकि जहाँगीर के बाद से फरियादी
प्रतिद्वन्द्वी गिना जाने लगा
मैंने तुमसे ले लिये
ये सारे के सारे भ्रम
ताकि तुम जियो
क्पास के फूल बनकर जियो

मैंने तुम्हे दे दिये
अपने सारे संचित स्नेह
और अब मैं हूँ
चैराहे पर खड़ी हुई केवल एक काया
मानव-प्रतिभाओं की केवल एक अनुकृति
जो तुम्हें रोड प्लेट-सी दिखेगी गतिहीन
क्योंकि मैं हूँ तुम में
तुम्हारे हर लमहे की कसक में।

एक परित्यक्त फाँसी की रस्सी का दर्द

दर्द
दर्द आज पहले से भी कुछ तेज है
किन्तु मन मारे अजगर-सा
नीरस बेलौस उत्तप्त बालुका-कण-सा
सरक आता है
ढह जाता है
वह जो चट्टान था
तिरोहित ही गल जाता है!
मेरे अन्तर्मन की प्रेत-काया

अग्नि में होम होने से पहले ही
डूब-डूब जाती है
ओ दर्द
ओ प्लावन
ओ अतिरेक
मेरे विवेक के उन्मेष
मैं जो क्षण-क्षण गलता हूँ
कहीं ठहरता और ढहता हूँ
सच : मर्यादा का पतन जहाँ क्षण-क्षण हो
वहाँ मैं विवके का सहोदर
दर्द हूँ,
वह तट की रस्सी हूँ
जिसमें यात्रियों की नावें आ कर बँधती हैं

लहरों की चट्टानी चोटें
प्रति क्षण टकराती है
अब नहीं हूँ मैं
तट की, किनारे की लगी हुई डोर सही
डूबा नहीं हूँ मैं
ओ रे नौका-यात्री
ठहर
ठहर
मैं सर्प नहीं
तट से लगी हुई रस्सी हूँ
आधी मैं रेत
आधी मैं सलिल
मुझसे तुम डरों नहीं
मैं सहज रेत और सलिल के बीच
की स्थिति हूँ।
दर्द
दर्द वह सहारा हैं
जो रेत की विवशता
प्रवाह की चेतना में मेरा
मेरे इस खालीपन का आधार बना
दर्द : जो मरुस्थल से निचुड़ा है
दर्द : जो सलिल से उमड़ा हे
दर्द : जो विवके का पिता है
दर्द : जो मेरा विधाता है
मैं हूँ
वह एक रस्सी
आधार
आलम्ब
जिसे गले में बांध
कोई आत्म हत्यारा
इस तट पर आया था

किन्तु जो कायर हो मुझे छोड़
वापस लौट गया

कवितान्तर (कविता-खंड) पृष्ठ-160

उसी आतंकित जीवन
और आतंकित परिवेश में।
और मैं
आज तट से खूँटे से बँधी
विश्राम की धात्री हूँ
ठहर ठहर ठहर
ओ यात्री
मैं कभी आत्महत्या करने वाले के गले से बँधी थी
कभी मैं विराम थी
आज मैं विश्राम हूँ
तटस्थ न तब थी
और न अब हूँ
दर्द तब भी था
और आज भी है।

कवितान्तर (कविता-खंड) पृष्ठ-161

❖

कुँवरनारायण

जन्म फैजाबाद में अगस्त 1927 ई. में | लखनऊ विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. | यात्रा-प्रिय होने के कारण सन 1955 ई. में पूर्वी यूरोप, रूस और चीन का भ्रमण किया | कविता लिखने का प्रारम्भ सन 1947 में अंग्रेजी में लिखने से हुआ, पर शीघ्र ही हिन्दी की ओर प्रवृत्ति हुई और तब से हिन्दी में नियमित लिखने लगे | 'युगचेतना' की सम्पादन समिति में सन् 1956 से पाँच वर्षों तक के लिए रहे | संप्रति लखनऊ में मोटर-व्यवसाय में व्यस्त |

कुँवरनारायण का काव्य यथार्थ के प्रति प्रौढ़ प्रतिक्रिया की मार्मिक अभिव्यक्ति है | वे संतुलित एवं स्पष्ट संवेदनाओं के कवि हैं | अपनी बौद्धिक जागरूकता के कारण उनका काव्य वैचारिकता से ओतप्रोत है | अभिजात्य दृष्टि के कारण कुँवरनारायण का काव्य क्लासिकीय सीमाओं को स्पर्श करता है | वे कविता को किसी-न-किसी सतह पर जीवन की अनुभूत व्याख्या मानते हैं | नयी कविता के अतिवादी आग्रहों से युक्त होने के कारण वे सहज एवं बोधगम्य लगते हैं | कुँवरनारायण की प्रारम्भिक कविताओं में बालकृष्ण राव ने 'पलायन की तत्परता' लक्षित की तथा उनकी कविता को उस लघुनातन भारतीय कवि की प्रतिच्छवि बताया जो मूलतः भारतीय होते हुये भी बहुत कुछ देशेतर गुणों, रुचियों और प्रवृत्तियों से सम्बंधित हो गया है | वस्तुतः पलायन की प्रवृत्ति उनकी कविताओं में नहीं मिलती वरन् वे उत्तरोत्तर जीवन के मूलभूत प्रश्नों से टकराने और उनका उत्तर खोजने के लिए व्यग्र दिखाई देते हैं | उनमें काव्य का परवर्ती विकास विशेषतः 'नचिकेता' इस तथ्य का प्रमाणित करता है | इसी तरह उनकी कविताओं पर क्षणवाद का आरोप भी सतही कहा जा सकता है | बहुधा उनके सधे हुए व्यंग्य और शब्दों के अर्थगर्भित प्रयोग को सही ढंग से न समझकर ही ऐसे मत व्यक्त किए गए हैं | उनकी कविताओं में एक आंतरिकता और गम्भीरता चिन्तनशीलता के साथ इस रूप में समन्वित मिलती है कि उन्हें अलग पहचाना जा सकता है | आपकी कविताओं का अनुवाद कई विदेशी भाषाओं में भी हुआ है |

प्रकाशित कृतियाँ :— 'तीसरा सप्तक' (1959) में संकलित कविताएँ, चक्रव्यूह, परिवेश हम तुम, आत्मजयी (1965)

कवितान्तर (कविता-खंड) पृष्ठ-162

❖

पंख मेरे

पंख मेरे
तू कृती हर बार

नभ केवल प्रतीक्षा।
तू उमड़ बढ़ वक्र में अपने गगन को घेर
उस अनियमित काल गति में सत्य अपने हेर
फूँक अपनी तीव्र गति से उस मरण में प्राण
दे निरर्थक कल्पनोपरि को धरा के मान
तू कती सौन्दर्य का
कर शून्य भी स्वीकार
तू रचा आकार, नभ केवल प्रतीक्षा।

उत्सर्ग

मैं मुझे स्वीकार
मेरे वन, अकेलेपन, परिस्थिति के सजी कांटे।
ये दधीची हडिड्यां
हर दाह में तप ले
न जाने कौन दैवी आसुरी संघर्ष बाकी हो, अभी
जिसमें तपायी हडिड्यां मेरी
यशस्वी हों
न जाने किस घड़ी की देन से मेरी
करोड़ों त्याग के आदर्श
विजयी हों
जिसे मैं आज सह लूँ
कल वही देवत्व हो जाय
न जाने कौन सा उत्सर्ग
बढ़ अमरत्व हो जाय।

विकल क्षण, जन्म को आतुर

यह विकल क्षण, जन्म को आतुर
उचित तम खोजता
रक्षाकोरक के विनश्वर गर्भ में
अनुकूल है ऋतु का खुला अभिप्राय
कर्म रत हो
स्वप्न मत देखो
कहीं उन्माद रह जाए न भौंरों का
निरर्थक गीत उद्दीपन
इस गली के छोर पर बुनियाद डालो
कोठरी में दीप की लौ
सेंकती ठण्डा अँधेरा
इन्हीं पर्तों में कहीं सोया हुआ है
रूम का गोरा सवेरा
तुम किसी के भाग्य से आक्रान्त हो
दे दो भविष्यत् जो कहीं तुम में छिपा है
अंग उत्तेजित सर्मिपत
सुलभ है इस द्रव्य का
प्रज्जवलित आहुति द्वार।

आपद्धर्म

कभी तुमने कविता की ऊँचाई से
देखा है शहर ?
अच्छे-भले रंगों के नुकसान के वक्त
जब सूरज उगल देता है रक्त
बिजली के सहारे रात
स्पन्दित एक घाव स्याह बक्तर पर
जब भागने लगता एक पूँछदार सपना
आँखों से निकल कर
शानदार मोहरों के पीछे । वह आती है
घर की दूरी से होटल की निकटता तक

लेकिन मुझे तैयार पाकर लौट जाती है
मेरा ध्यान भटका कर उस अँधेरे की ओर
जो रोशनी के आविष्कार से पहले था ।
उसकी दे हके लचकते मोड़
बेहाल सड़कों से होकर अभी गुजरे हैं
कुछ गये-गुजरे देहाती खयाल
जैसे पनघट, गोरी, बिंदिया वगैरह
और इसी एहसास को मैंने
अक्सर इसतेमाल से बचाकर
रहने दिया कविता की ऊँचाई पर
और बदले में मोम की किसी
सजी-बनी गुड़िया को
बाँहों में पिघलाने दिया ।
जलते-बुझते नीओन-पोस्टरों की तरह
यह सधी-समझी प्रसन्नता
सोचता हूँ
इस शहर के और मेरे बीच
किसकी जरूरत बेशर्म है ?
एक ओर हर सुख की व्यवस्था
दूसरी ओर प्यार आपद्धर्म है।

मुँह छिपाती साँझ

झुरमुटों में मुँह छिपाती साँझ :
ओज के टूटे हुए रेशे
पवन को छानते
निर्मूल लहराते,
रक्त से भीगी शिराएँ,
चू रहा दिल में समय का नीर
करता रंग फीका,
प्यार के जुल्मी थपेड़े
पूर्व परिचय खींच

मन झकझोरते

कहते चाह के अपवाक्य ।
एक मुट्ठी कौड़ियों से श्वेत बगुले
व्योम पर फिंक पर खिले,
फिर खो गये
मान हूँ यदि
नील अम्बर नखत आभूषण किसी का,
नौलखे अवतंस के ये प्राण मुक्ता श्वेत,
बढ़ते लक्ष्य तक शरवेग
गूँथे तन्तु, तिनको, वायु के समवेत,
पवन के हल्के थपेड़े
विरस पत्तों बीच
स्मृति हलकोरते.........
सहते आह के चुप वाक्य ।
तरुवरों में छिप सिसकती साँझ ।
एक मुट्ठी प्राण फिंक कर खिले,
खिल कर खो गए ।

जाड़ों की एक सुबह

रात के कम्बल में
दुबकी उजियाली ने
धीरे से मुँह खोला,
नीड़ों में कुलबुलकर
अलसाया अलसाया
पहला पंक्षी बोला ।
दूर कहीं चीख उठा
सीले स्वर से इंजन
भर्राता-खाँस-खूँस
फिर छूटा कहर कहर
कड़वी आवाजों से
खामोशी चलनी कर
सिसकी पर सिसकी भर
गई ट्रेन क्षितिज पार ।

क्रमशः ध्वनि डूब चली,
चुप्पी से झुँझला कर
मानो फिर कटवट ली
ओढ़ लिया ऊपर तक
खींच सन्नाटे को,
धीरे से उढ़का कर
निद्रा के खुले द्वार ।
बह निकली तेज हवा
पेड़ों से सर सर सर
काँप रहे ठिठुरे से

पत्ते थर थर थर थर,
शबनम से भीगे तन
सुमन खड़े सिहैर रहे,
चितकबरी नागिन-सी
भाग रही शीत रात,
लुक छिप कर आशंकित
लहराती पौधों में
बिछलन सी चमकदार,
छोड़ गयी कोहरे की
केंचुल अपने पीछे,
डसती ठण्डी बयार।
तालों के समतल तल
लहरों से चौंक गये,
सपनों की भीड़ छँटी;
निद्रालस पलकों से
मँडराते चेहरों की
एकाकी रात हटी
धीमें हलकोरों में
नीम की टहनियों का
निर्झर स्वर मर्मर कर
ढरता है वृक्षों से
प्राणों से हर हर भर
शिशुवत तनम न दुलार।

फूलों के गुच्छों से
मेघ खण्ड रंग भरे,
झुक आये मखमल के
खेतों पर रुक ठहरे,
पहिनाते धरती को
फुलझड़ियों के गजरे;
प्राची के सोतों से
मीठी गरमाहट के
फौव्वारे फूट रहे,
धूप के गुलाबी रंग
पेड़ों की गीली
हरियाली पर टूट रहे,
चाँद कट पतंग-सा
दूर उस झुरमुट के
पीछे गिरता जात.....
किलकारी भर भर खग
दौड़ दौड़ अम्बर में
किरण डोर लूट रहे,
मेला तम चीर फाड़
स्वर्ण ज्योति मचल रही,
डाह भरी रजनी के

आभूषण कुचल रही,
फेंक रही इधर उधर
लत्ते सा अन्धकार !

प्रश्न का विस्तार

नील पारावार,
तुम खड़े हो आज भी अपने हृदय को खोल,
अपने मौन अपनी व्याप्ति में
लाखों युगों को घोल :
ठीक कहते हो बड़ी है आत्मा....
तुम हमारे प्रश्न का विस्तार पर उत्तर नहीं हो ।

हम बिठाते ही रहे देवालयों में ईश्वरों को
हम उठाते ही रहे अन्तःकरण में दूर के आश्रुत स्वरों को,
हम खिलाते ही रहे तन पंक ये इन्दीवरों को,
हम बनाते ही रहे मन्दिर घरों को
वह जिसे कुचला किया इतिहास
अपनी चाल से कर चूर,
वह जिसे पाता रहा विश्वास
लेकिन जिन्दगी से दूर,
ऊँची धार्मिक ईमारतों में तुम चुने पत्थर नहीं हो,
तुम हमारे प्रश्न का विस्तार पर उत्तर नहीं हो ।
हर अलौकिक रूप पृथ्वी पर बिगड़ता ही रहा,
एक धब्बा हर उजाले पर सदा पड़ता रहा,
एक काँटा देह में सन्देह बन गड़ता रहा,
आदमी हर दिव्यता के बाद भी सड़ता रहा,
और बारम्बार पाया
शून्य नीलाकाश
तुम ईश्वर नहीं हो,
तुम हमारे हमारे प्रश्न का विस्तार पर उत्तर नहीं हो ।

पैतृक युद्ध

कौन कल तक बन सकेगा कवच मेरा ?
युद्ध मेरा, मुझे लड़ना
इस महाजनी समर में अन्त तक कटिबद्ध ।
सिर्फ मेरे ही लिए यह व्यूह घेरा
मुझे हर आघात सहना
गर्म निश्चल मैं नया अभिमन्यु, पैतृक युद्ध ।

चक्रव्यूह

युद्ध की प्रतिध्वनि जगाकर
जो हजारों बार दुहराई गई,
रक्त की विरुदावली कुछ और रँगकर
लोरियों के सँग जो गाई गई—

उसी इतिहास की स्मृति,
उसी संसार में लौटे हुए,
ओ योद्धा तुम कौन हो ?
मैं नवागत वह अजित अभिमन्यु हूँ
प्रारब्ध जिसका गर्भ ही से चुका निश्चित,
अपरिचित जिन्दगी के व्यूह में फेंका हुआ उन्माद,
बाँधी पंक्तियों को तोड़
क्रमशः लक्ष्य तक बढ़ता हुआ जयनाद !
मेरे हाथ में टूटा हुआ पहिया,
पिघलती-आग सी सन्ध्या,
बदन पर एक फूटा कवच
सारी देह क्षत-विक्षत,
धरती-खून में ज्यों सनी लथपथ लाश,
सिर पर गिद्ध-सा मँडला रहा आकाश ......
मैं बलिदान इस संघर्ष में
कटु व्यंग्य हूँ उस तर्क पर
जो जिन्दगी के नाम पर हारा गया,
आहुत हर युद्धाग्नि में
वह जीव हूँ निष्पाप
जिसको पूज कर मारा गया,
वह शीश जिसका रक्त सदियों तक बहा,
वह दर्द जिसको बेगुनाहों ने सहा ।
यह महासंग्राम,
युग-युग से चला आता महाभारत,
हजारों युद्ध, उपदेशों, उपाख्यानों, कथाओं में
छिपा वह पृष्ठ मेरा है
जहाँ सदियों पुराना व्यूह, जो दुर्भेद्य था, टूटा,
जहाँ अभिमन्यु कोई भयों के आतंक से छूटा,
जहाँ उसने विजय के चन्द घातक पलों में जाना
कि छल के लिए उद्यत व्यूह-रक्षक वीर-कायर हैं
जिन्होंने पक्ष अपना सत्य से ज्यादा बड़ा माना—
जहाँ तक पहुँच उसने मृत्यु के निष्पक्ष, समयातीत घेरे में
घिरे अस्तित्व का हर पक्ष पहचाना ।

पहले भी आया हूँ

जैसे इन जगहों में पहले भी आया हूँ
बीता हूँ ।
जैसे इन महलों में कोई आने को था,
मन अपनी मनमानी खुशियाँ पाने को था :
लगता है—
इन बनती-मिटती छायाओं में तड़पता हूँ,
किया है इन्तजार
दी हैं सदियाँ गुजार,
बार-बार

इन खाली जगहों में भर-भर कर रीता हूँ
रह-रह पछताया हूँ,
पहले भी आया हूँ,
बीता हूँ।

अतीत के तीन खण्ड-चित्र

(श्रावस्ती)

समय के समतल उतर कर
हाथ जोड़े-सी गुजरती
एक नतमस्तक अपरिचित शाम।
यूँ ही याद आती—
वे खंगाली सभ्यताएँ खण्डहरों की तूंबियों में.....
नहीं,
कुछ अब भी बची है कीर्ति-गाथा
जिस तरह आक्षितिज सहसा गूँज कर
गूँजता रह जाय कोई चक्रवर्ती नाम।
जेतवन की परिव्राजक हवाओं में
आह, उन अनुपस्थितियों का स्पर्श,
जिनके बाद भी अस्तित्व में कुछ अर्थ बाकी है।

कोणार्क

सुख-मुग्ध अलस आकृतियाँ
विलसित काम-मुद्राएँ
देव-रक्षित काल मुक्त
एक अतीन्द्रिय तन्मयता के मांसल संकेतों में कहतीं—
कि जीवन आल्हाद है, शर्म नहीं।
वह जो इन निर्विकार प्रस्तर-प्रतिमओं को अर्पित कर
प्रसाद-रूप ग्रहण हुआ—
हम जीवन के वशीभूत देवतुल्य
उन्हीं सफुलिंग सुखों के सहभोक्ता हैं :
अंधी गुफाओं में मुँह ढाँके शर्म नहीं।
ये महान शिलाचित्र,
सूर्य के प्रकाश में
अकुंठित आत्मा की निष्काम व्याख्या है :
जीवन की भरपूर स्वीकृति,
लाखों विरोधों में
किसी आधार-संगीत की अनुकृति।

रास्ते (फतेहपुर सीकरी)

वे लोग कहाँ जाने की जल्दी में थे
जो अपना सामान बीच रास्तों में रखकर भूल गये हैं ?
नहीं, यह मत कहो कि इन्हीं रास्तों में
हजारों-हजारों फूल गये हैं ....
वह आकस्मिक विदा ! (कदाचित् व्यक्तिगत !)

जो शायद जाने की जल्दी में फिर आने की बात थी !
ये रास्ते, जो कभी रास्ते थे,
अब आम रास्ते नहीं !
ये महल, जो बादशाहों के लिए थे
अब किसी के वास्ते नहीं।
आश्चर्य, कि उन बेताब जिन्दगियों में
सब्र की गुंजाइश थी !
और ऐसा सब्र कि अब ये पत्थर भी ऊब रहे हैं।

नचिकेता

असहमति को अवसर दो । सहिष्णुता को आचरण दो
कि बुद्धि सिर ऊँचा रख सके
उसे हताश मत करो काइयाँ स्वार्थों से हटा-हटाकर ।
अविनय को स्थापित मत करो
उपेक्षा से खिन्न न हो जाय कहीं
मनुष्य की साहसिकता ।
अमूल्य थाती है यह सबकी
इसे स्वर्ग के लालच में छीन लेने का
किसी को अधिकार नहीं
आह, तुम नहीं समझते पिता ! नहीं समझना चाह रहे
कि एक-एक शील पाने के लिए
कितनी महान आत्माओं में कितना कष्ट सहा है ।
सत्य, जिसे हम सब इतनी आसानी से
अपनी-अपनी तरफ मान लेते हैं, सदैव
विद्रोह-सा रहा है ।
तुम्हारी दृष्टि में मैं विद्रोही हूँ
क्योंकि मेरे सवाल तुम्हारी मान्यताओं का उल्लंघन करते हैं
नया जीवन-बोध संतुष्ट नहीं होता
ऐसा जवानों से जिनका सम्बन्ध
आज से नहीं अतीत से है
तर्क से नहीं रीति से है।
यह सब धर्म नहीं, धर्म सामग्री का प्रदर्शन है ।
अन्न, घृत, पशु, पुरोहित मैं
शायद इस निष्ठा में हर सवाल बाधा है
जिसमें मनुष्य नहीं अदृश्य का साझा है
तुम सब चतुर और चमत्कारी ।
बहुमत यही है—ऐसा ही सब करते
(कितनी शक्ति है इस स्थिति में !)
जिसमें भिन्न सोचते ही
मैं विधर्मी हो जाता हूँ
किसी बहुत बड़ी संख्या से घटा दिया जाता हूँ

इस तरह
कि शेष समर्थ बना रहना गलत भी
एक सही भी, अनर्थ हो जाता है ।

सामूहिक अनुष्ठानों के समवेत मन्त्र-घोष
शेष स्वरों में यन्त्रवत् हिलते नर-मुंड आँखें मूँद
इनमें एक व्यक्तिगत अनिष्ठा
एक अनहोनी बात
जिसके अविश्वास से
मंत्र झेंपते हैं, देवता मुकर जाते, वरदान भ्रष्ट होते
तुम जिनमें माँगते हो
मुझे उनकी माँगो से डर लगता ।
इस समझौते और लेन-देन में कहीं
व्यक्ति के अधिकार नष्ट होते
अँधेरे में जागते रहो—अभ्यस्त आवाजों से
सचेत करते पहरेदार । नैतिक आदेशों के
पालतू मुहावरे सोते-जागते कानों में : साथ ही
एक अलग व्यापार ईमान के चोर-दरवाजों से ।
मनुष्य स्वर्ग के लालच में
अक्सर इस विवके तक की बलि दे देता
जिस पर निर्भर करता
जीवन का वरदान लगना
मैं जिन परिस्थितियों में जिन्दा हूँ
उन्हें समझना चाहता हूँ—वे उतनी ही नहीं
जितनी संसार और स्वर्ग की कल्पना से बनती है
क्योंकि व्यक्ति मरता है
और अपनी मृत्यु में वह बिल्कुल अकेला है
विवश
असान्त्वनीय ।
एक नग्नता है निःसंकोच
खुले आकाश की
शरीर की अपेक्षा
शरीर हवा में उड़ते वस्त्र आसपास
मैं किसी आदिम निर्जनता का असम्य एकान्त

जितना ढँका उससे कहीं अधिक अनाकृत
घातक, अश्लील सचाइयाँ
जिन्हें सब छिपाते
पर जिनसे छिप नहीं पाते।
इन्द्रासन का लोप
प्रत्येक जीवन
मानों किसी असफल षड्यन्त्र के बाद
पूरे संसार की निर्मम हत्या है।
एक आत्मीय सम्बोधन—तुम्हारा नाम
स्मृति-खण्डों के बीच झलकता चितकबरा प्रकाण ।
एक हँसी बंद दरवाजों को खटखटाती । सुबह
किसी बच्चे की किलकारी से तुम जागे हो, पर
आँखें नहीं खोलते । उसके उत्पात ने तुम्हें विभोर
कर दिया है : पर नया दिन आलस्य की करवटों से

टटोलता—तुम नहीं देखते कि यह दूसरा दिन है,
और वह बालक जिसने तुम्हें जगाया, अब बालक नहीं |
प्यार अब पर्याप्त नहीं ।
न जाने कितनी वृत्तियों उग आया वह
तुम्हारा विश्वबोध और अपना
भिन्न, प्रतिवादी, अपूर्ण
अब उसे स्वीकारते तुम झिलकते हो
उसे स्थान देते लज्जित .... ।

वाजश्रवा

पिता तुम भविष्य के अधिकारी नहीं
क्योंकि तुम अपने 'हित' के आगे नहीं सोच पा रहे
न अपने 'हित' को ही अपने सुख के आगे।
तुम वर्तमान को संज्ञा तो देते हो, पर महत्व नहीं ।
तुम्हारे पास जो है, उसे ही बार-बार पाते हो
और सिद्ध नहीं कर पाते कि उसने
तुम्हें सन्तुष्ट किया |

इसीलिए तुम्हारी देन से तुम्हारी ही तरह
फिर पाने वाला तृप्त नहीं होता
तुम्हारे पास जो है, उससे और अधिक चाहता है
विश्वास नहीं करता कि तुम इतना ही दे सकते हो।
पिता ! तुम भविष्य के अधिकारी नहीं, क्योंकि
तुम्हारा वर्तमान जिस दिशा में मुड़ता है
वहाँ कहीं एक भयानक शत्रु है जो तुम्हें मार कर
तुम्हारे संचयों को मार्ग में ही लूट लेता है
और तुम खाली हाथ लौट आते हो।
वह जो शाम से डाकू किन्तु जन्म से राजा है
उसका उद्दण्ड संवाल—भविष्य चाहिए : ये अधमरी
गायें नहीं ।
और तुम हमारी ओर—हम जो अभी आने वाले हैं—
सन्देह से देखते हो अपना संचय
छोड़ जाने से पहले, क्योंकि हम उसे
तुम्हारे अनुकरण से बृहत्तर कोई विशिष्टता देना चाहते हैं।
तुम भी एक प्राणी हो
सबकी तरह समय के बने
जिसे सिंहासन एक भूमिका देता है
मुकुट एक शीर्षक
सेना एक कर्तव्य है
स्वरक्षा एक धर्म है
सभासद एक दायित्व है
पर ये सब तुम्हें इस तरह हर लेते हैं
कि तुम्हें पहचानना कठिन हो जाता है।
कभी तुम्हें विशाल सेना के मध्य रण करते
कभी अखेट करते

कभी न्यायाधीश पद से मुखरित
कभी अन्तःपुर में विलास करते
.... एक साथ देखता हूँ
और लगता है कि हर जगह तुम अरिंजित हो
इसीलिए अवास्तविक।
तुम हर जगह भूख-प्यास वाले साधारण प्राणी हो

कवितान्तर (कविता-खंड) पृष्ठ-176

जिसके मुकुट और सिंहासन पर
सूर्य की किरणें इस तरह पड़ रहीं हैं
कि तुम दिव्य दिखते हो..........पर यह सारी शोभा—
सूर्यास्त होते ही बिलख उठेगी।
एक साँप उस मुकुट में छिपा है
दोनों को अपने से दूर फेंक दो।
तुम्हारे सिंहासन के पीछे अभी-अभी
एक तीर की नोंक चमकी थी।
रानिवास में यह असमय विलाप कैसा ?
मनहूस काली आकृतियाँ खम्भों से लगी हुई
यह सब क्या मेरा भ्रम है ? या
इन्हें न देख पाना तुम्हारा ?
रहस्यमय कानाफूसियाँ
पेचीदा मन्त्र-जाप ? या गुप्त मन्त्रणाएँ ?
यह दान ? या अज्ञात वधिकों से कोई अशुभ समझौता ?
पिता !
ये सब कैसे संकेत हैं, जो आश्वस्त नहीं करते—
ये कैसे स्तुतियाँ हैं, जिनसे
पाखण्ड की गंध आती है ?
गलत जीने से
सही बातें गलत हो जाती हैं ।
सचाइयाँ झूठ लगतीं
अच्छाइयाँ गुनाह
धर्म पाप हो जाता
ईश्वर आततायी
प्यार रोग बन जाता
लोभ भयावह
यह भी संभव है कि एक पशु दूसरे को खा जाए।
यह भी संभव है कि एक मनुष्य .... ।
अस्तित्व एक घातक तर्क भी हो सकता है
एक पाशविक भावना भी इस तरह
कि युद्ध और कलह जरूरी लगे
स्वार्थ और छल से जीना मजबूरी लगे ।

कवितान्तर (कविता-खंड) पृष्ठ-177

यदि यथार्थ है मृत्यु भी
तो मृत्यु ही यथार्थ हो जा सकती है
इस तरह कि वह जीवन पर छा जाये
एक संभावना से बढ़कर आवश्यकता बन जाए

और हम उसे रोज के व्यवहार में बोलें, दिखाएँ, फैलाएँ ....।
एक स्तर पर
विद्वेष, क्रूरता, हिंसा, बेईमानी
सब कुछ इतना संभव है कि स्वभाविक लगे
और उसी स्तर पर हममें से हर एक जी सकता है
पागलों की तरह
एक दूसरे से त्रस्त, पीड़ित और अपमानित।
तुम्हारे इरादों में हिंसा
खंग पर रक्त |
तुम्हारे इच्छा करते ही हत्या होती है।
तुम समृद्ध होंगे
लेकिन उससे पहले
समझाओ मुझे अपने कल्याण का आधार
ये निरीह आहुतियाँ। यह रक्त। यह हिंसा
ये अबोध तड़पते। बीमार गायों-सा जन समूह।
'मेरी आस्था को बल दो' – कहते ही
तुम्हारा हाथ ऊपर उठता है—एक वध और
यह अन्तिम है। इसके बाद वरदान।
मेरी आस्था काँप उठती है
मैं उसे वापस लेता हूँ।
नहीं चाहिए तुम्हारा यह आश्वासन
जो केवल हिंसा से अपने को सिद्ध कर सकता है।
नहीं चाहिए वह विश्वास, जिसकी चरम परिणति हत्या हो।
मैं अपनी अनास्था में अधिक सहिष्णु हूँ।
अपनी नास्तिकता में अधिक धार्मिक।
अपने अकेलेपन में अधिक मुक्त |
अपनी उदासी में अधिक उदार।

कवितान्तर (कविता-खंड) पृष्ठ-178

शान्तिबोध

सूर्योदय,
एक अँजलि फूल!
जल से जलधि तक अभिराम।
माध्यम शब्द अर्धोच्चरित।
जीवन धन्य है।
आभार
फिर आभार।
इस अपरिमित में
अपरिमित शान्ति की अनुभूति।
अक्षय प्यार का आभास।
समर्पित मत हो त्वचा को
स्पर्श गहरे मात्र।
इससे श्रेष्ठतर मूर्द्धन्य सुख। जल बेड़ियों से
कहीं ऊपर।
कहीं गहरे ठहर कर आधार-मूलाधार

जीवन हर नये दिन की निकटता।
आत्म विस्तार ।

कवितान्तर (कविता-खंड) पृष्ठ-179

❖

विजय देव नारायण साही

जन्म 2 अक्टूबर 1924 ई0 को वाराणसी में हुआ । आरम्भिक शिक्षा काशी में। उसके बाद प्रयाग चले आये और प्रयाग विश्वविद्यालय से 1948 ई0 में अंग्रेजी से एम0 ए0 किया। तीन वर्ष काशी विद्यापीठ से अध्यापन करने के उपरान्त सन् 1951 ई0 से प्रयाग विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग में नियुक्त हुए। सन् 1958 ई0 में विवाह हुआ। अंग्रेजी साहित्य के अतिरिक्त उर्दू-फ़ारसी के ज्ञान का लाभ भी उठाया है।

निम्न मध्यवर्ग के परिवार में जन्म लेने के कारण बचपन अत्यन्त अभावों में बीता। परिवारिक परिस्थितियों के कारण ही उन्हें ठण्डे बौद्धिक स्तर पर सिद्धान्त, मूल्यों वं प्रतिमानों का जामा पहनाने की प्रवृत्ति से विचारों एवं अनुभूतियों की सामग्री मिली । विद्यर्थी-जीवन से ही वे कांग्रेस समाजवादी दल से सम्बद्ध हो गये थे। बाद में समाजवादी दल से स्वतन्त्र उसमें प्रमुख रूप से नेतृत्व करने लगे। सन् 1942 के दौरे से इसके राजनीतिक जीवन का प्रारम्भ हो गया था।

साम्यवादी प्रगतिवादियों से प्रभावित होकर साही ने वाराणसी में लगभग तीन-चार वर्षों तक चौदह, पन्द्रह, ट्रेड-यूनियनों में मजदूरों का नेतृत्व सँभाला। इलाहाबाद चले आने के बाद मुख्य रूप से मीरजाफर-भदोही के अस्सी हजार कालीन बुनकरों की समस्याओं में उन्होंने स्वयं को केन्द्रित कर लिया । कांग्रेसी शासन में विभिन्न प्रदर्शनों का नेतृत्व करने के कारण कई बार जेल यात्रा भी करनी पड़ी।

विजयदेवनारायण साही नयी कविता के एक प्रमुख प्रवक्ता और प्रौढ़ कवि माने जाते हैं । उनके चिंतनशील व्यक्तित्व ने उनकी रचनाओं को गहन अर्थवत्ता प्रदान की । साही की भाषा में भी सादगी है लेकिन यह भवानीप्रसाद मिश्र की तरह बहुधा सीधी-सपाट न होकर कलात्मक संवेदना से युक्त है । उनकी कविता के बहुत से प्रतीक और मुहावरे उर्दू-फारसी तथा अंग्रेजी संस्कारों के द्योतक हैं । कविता की समस्याओं में उनकी दिलचस्पी राजनैतिक सैद्धान्तिक चिन्तन से कम नहीं रही है । यद्यपि लेखन और प्रकाशन के प्रति काहिली की सहज मुद्रा उन्हें पसन्द रही ।

कवितान्तर (कविता-खंड) पृष्ठ-180

प्रकाशित कृतियाँ

कवितायें :— तीसरा सप्तक (1952) में प्रकाशित कविताएँ, मछली घर (1966)।

सम्पादन :— त्रैमासिक आलोचना (1953-58) भारती आदि के साथ संयुक्त रूप से । नयी कविता (1953-1961) डॉ. जगदीश गुप्त के साथ सहयोगी रूप में ।

कवितान्तर (कविता-खंड) पृष्ठ-181

❖

दे दे इस साहसी अकेले को

दे दे रे
दे दे इस साहसी अकेले को
एक बूँद ।
ओ संध्या
ओ फकीर चिड़िया
ओ रुकी हुई हवा
ओ क्रमशः तर होती हुई जाड़े की नर्मी
ओ आस-पास झाड़ों झंखाड़ों पर बैठ रही आत्मीयता

कैसे ? इस धूसर परीक्षण में पंख खोल
कैसे जिया जाता है ?
कैसे सब हार त्याग
बार-बार जीवन में स्वत्व लिया जाता है ?
कैसे, किसी अमृत से
सूखते कपाटों को चीर चीर
मन को निर्बन्ध किया जाता है
दे दे इस साहसी अकेले को ।

दो सन्ध्या चित्र

(एक)
हजार-हजार तोते
छर्रे की तरह छूटते हैं
पीछे, ऊँची मेहराबों से :
आकाश में
खाते हैं गोते ।
सलाखों के पीछे से
सेंदुर पुता हुआ
झाँकता है कोई चेहरा

रँगे हाथ
खिलखिलाता ।
(दो)
रह रह कर छेड़ती-सी हवा
गुलाबी पतंग के पीछे
भरे भरे
गुदगुदे गुलाबी बादल ।
कंगूरे के ऊपर का हवामुर्ग
खिलाड़ी
पेट के सहारे नाचाता है
चोंच से पूँछ पकड़ने के लिए ।

दीवारें

जिस दिन हमने तोड़ी थीं पहली दीवरें
(तुम्हें याद है ?)
छाती में उत्साह
कण्ठ में जयध्वनियाँ थी ।
उछल-उछल कर गले मिले थे
फिरे बाँटते बड़ी रात तक हम बधाइयाँ
कारा घर में फैल गयी थी यही सनसनी—
लो, कोतूहल शान्त हो गया ।
फिर ये आये
ये जो दीवरों के बाहर के वासी थे
उसी तरह इनके भी पैरों में

निशान थे
उसी तरह इनके हाथों में
रेखायें
उसी तरह इनके भी आँखों में
तलाश थी
परिचय स्वागत की जब विधियाँ खत्म हो गयीं
तब ये बोले—
यहाँ कहीं कुछ नया नहीं हैं।

और हमें तब यह ज्ञात हुआ था
(तुम्हें याद है ?)
इसके आगे अभी और भी हैं दीवारें।
तब से हमने तोड़ी हैं कितनी दीवारें
कितनी बार लगाये हमने जय के नारे
पुष्ट साहसी हाथों की अन्तिम चोटों से
जब जब अररा कर टूटी जिद्दी प्राचीरें
नभ में उड़ कर धूल गयी है
(किलकारी भी !)
लेकिन हर बार क्षितिज पर
कुद्ध वृषभ के आगे लाल पताका जैसी
धीरे-धीरे फिर दीवरें उग आयी हैं
नथुने फुला-फुला कर हमने घन मारे हैं |
अजब तरह की यह कारा
जिसमें केवल दीवारें ही
दीवारें हैं
अजब तरह के कारावासी
जिनकी किस्मत सिर्फ तोड़ना
सिर्फ तोड़ना।

नदी मूल

नदी मूल में
जहाँ रेंगते हुए साँपों का पहरा रहता है
क्या तुम फावड़ा लेकर जा सकते हो ?
वहाँ पेड़ों का अँधेरा कुंज है
और भीतर जाने का कोई प्रवेश द्वार नहीं है
तुम्हें उलझती हुई डालियों को काट कर
रास्ता बनाना पड़ेगा
और भीतर झाँकते ही
सर उठा कर
वयस्क भुजंग फुफकारेंगें
जब वे तुम्हारी आँखों से आँखे मिला

तुम्हारी ओर सन्नद्ध प्रश्न मुद्रा में देखेगें
तब तुम उनसे क्या कहोगे ?
नदी मूल

असंख्य झाड़ियों, गिरी हुई पत्तियों
और केचुलों के गुज्झर से
अवरुद्ध हो गया है
और उनके बीच से
सिर्फ एक पतली छनी हुई धारा
पेड़ों, लताओं को सींचती हुई बहती है।
क्या तुम्हारे पास वह मणि है।
जिसे तुम तत्काल फेंक कर
कुंज में
शीशमहल की तरह उजाला कर सकते हो ?
तब वे चकाचौंध मणिधर
उस मणि के चारों ओर
रस्सियों की तरह लिपट जायेंगे
और रोशनी का रंग उनके रक्त की तरह
लाल हो जायेगा।
उसी समय तुम्हें बहुत फुर्ती से
नदी मूल पर फावड़ा चलाना होगा
ताकि मुहाने पर अटका हुआ पत्थर
खण्ड खण्ड हो जाय
और जिस तरह ताजे कबन्ध से
खून का फौव्वारा निकलता है
वैसे ही अमृत-सी छलछलाती हुई धारा
बाहर निकलेगी।
फिर तुम मुड़ कर न देखना
और बिजली की तरह
अपने बनाये हुए रास्ते से
बाहर निकल आना।
तुम देखोगे कि सारी उपत्यका में
गरजता हुआ शोर भर गया है
और पानी बड़े वेग से बहता

चला जा रहा है।
लेकिन तुम्हारी अमूल्य मणि
खो जायेगी
तुम फिर उसकी लालच में न पड़ना
वह तुम्हारी नहीं
उन्हीं व्यस्क भुजंगों की है
और तुम्हें इसीलिये दी गयी थी।

घाटी का आखिरी आदमी

वे सब उस विशाल तीर्थयात्रा को चले गये
पताकाएँ उड़ाते, तूर्य बजाते
आभूषण झँकारते :
धनुषाकार नदी के किनारे
एक सुनहरा हिरन

चुपचाप पानी पीता है
टटोल टटोल कर
और एक पनडुब्बी
गेंद की तरह उछलती है
अधर में ।
संज्ञाहीन घाटी के शरीर में
नाभिवासी सर्प की तरह
निरापद को तौलता
निकलता है अर्थ—
नवजात शिशु की त्वचा-सी
चमकदार केंचुल पर
ब्रह्माण्ड की गुदगुदी अँगुलियों का
दबाव महसूस करने के लिए
और पीता है छनी हुई हवा को ।
क्या वे वापस लौटेंगे ? शायद नहीं
तूर्य की आवाज आती है दूर से
और मिटते-मिटते
तनी हुई हवा की ही तरह

पारदर्शी हो जाती है।
वे जो उत्साह, ओज
तैयारी की घबराहट
कोतल पशुओं का रोका जाता आवेग
रंग-बिरंगे परिधानों की निर्णयात्मकता
परस्पर सहारे का बेचैनी
मुखियाओं की आत्मविश्वास
पंक्ति-पंक्ति में अनुस्यूत
ममना, कुतूहल, उत्स, कुरच
भरे-पूरे आरम्भ का उल्लास
कल्पित प्रयासों का उठता-गिरता संगीत
लिये, अगले पड़ाव तक चले गये
क्या वे वापस लौटेंगे ?
...........शायद नहीं
अर्थ के टटोलते सरीसृप-सा
स्वप्न रहित
मैं वल्मीक तोड़कर निकलता हूँ
मैने विदा दिये हैं सारे स्वप्न, सारे पाश
और मैं उन्मुक्त हूँ
फिर भी बरसात की निरभ्र दोपहरी में विल्लौरी भाप-सा
मैं मँडराता हूँ घाटी पर
मुझको बेचकर थरथराती है पनडुब्बी
और सुनहरा हिरन
मेरे स्पर्श से रोमांचित होता है ।
अन्तरिक्ष की तरह अनस्तित्व समाधि के बाद भी

कुछ नहीं भूला हूँ मैं
सिर्फ सब कुछ धुल गया है।
और हीरे के टुकड़ों-सा चमकता है
आहिस्ता तरंगायित
क्या मैं जाऊँ उस पार ?
जहाँ ओस भरी घास रसीले ओठों की तरह आभा देती है ?
अकेला पीला फूल
अनिश्चित चिड़िया की तरह

पंख खोल खोल कर रह जाता है
उड़ता नहीं ?
सफेद पत्थरों का उतरता हुआ जीना
थोड़ा-सा दिखता है।
सूना
जाने के लिए नहीं बैठने के लिए ?
कौन था जो सीढ़ियों तक आया
और आकार लेकर अदृश्य हो गया ?
मैंने उसका चेहरा नहीं देखा
क्या उसका चेहरा था ?
क्या वह था
जो घाटी में छूट जाता है
सब के चले जाने के बाद ?
क्या है जिसने धो दिया है अस्तित्व को
स्मृति के फैलाव में इतस्ततः
स्तब्ध मीनारों को
संगमरमर की तरह जमी हुई बालू को
और घिरे हुए निर्वात को
जो अस्तित्व है ?
समय, तो फिर समय ही क्या है ?
स्वप्न-रहित समय
जो धोकर संचित कर देता है
चेतना को
निर्निमेष अशरीरी दृष्टि में बदल देता है ?
कब तक तुम चुपचाप बहते हुए
निर्मल पानी को देखते रहोगे
स्वप्न रहित ?
जालों के ऊपर से बादल चले गये
और आकाश फिर आदिम हो गया,
कुछ देर के लिए
दूर नदी के सिरहाने
बरफीला शिखर दिखा था
और लुप्त हो गया

कुंज से टूट कर एक पीली पत्ती
निर्मल पानी की आरसी में गिरी

नाची और बह कर चली गयी ।
तुमने उसे नहीं देखा
सिर्फ पानी देखते रहे,
अदृश्य स्त्रोत से आता हुआ
रथ-हीन, स्वप्न-हीन पानी |
कहाँ है अन्त ?
तिलमिलाता, दुर्भेद्य, अन्तिम अन्त ?
मैंनें अपनी दोनों हथेलियाँ फैला दी हैं
दर्पण की तरह
ताकि यह विराट नील उनमें प्रतिबिम्बित हो सके
अब भी पहले की ही तरह
इन हथेलियों के तले
नीला समूचा आकाश दिखता है आर पार
और इस अनन्त नीलिमा को
भाग्य रेखा की तरह
चरती हुई
सफेद बलाका उड़ती चली जा रही है
क्षितिजहीन ....
मेरी निवेदित दृष्टि
इस कभी न ओझल होने वाली बलाका के साथ
अनुपस्थित गन्तव्य की नीलिमा में खो जाती है ।
अब भी पहले की ही तरह
मुकुर की सतह को सहलाता हुआ
हवा का परिचित झोंका
निकल जाता है
और प्रतिबिम्बत के स्थान पर
धुँधली भाप के बीच से
उदित होती है
दो भीगी गदेलियाँ
और महीन धागों की तरह स्पन्दित शिराएँ ।

अब भी पहले की ही तरह
इस शैल पर खड़ा हुआ
मैं विसर्जित करता हूँ
अनुभूति के निश्शेष
हवाओं को, गुमसुम शिखरों को, धनुषाकार नदी को
निश्शब्द ....
मैंने तुम्हें एक झलक दिखाई है
जो में अपने साथ लाया था
और सन्ध्या के पहले
जब इस शिखर से उस शिखर तक
साँवला सूर्यहीन प्रकाश फैल जायेगा
तब मैं फिर वापस चला जाऊँगा
पीला रोशनी की खिड़की वाले कुटीर में
सफेद कागज पर बनते-बिगड़ते अकारों को देखने ।

मैंने अँधेरे के बीच से देखने की कोशिश की
और कुछ नहीं पाया
अदृश्य प्रवाह के अतिरिक्त
और मैंने देर तक देखी है
गुजरती सध्याएँ
आधी रात में छिटके तारे
पत्थर पर बैठी चुपचाप चिड़िया
काले पड़ते जंगल
और सीढ़ियों की तरह दूर तक उतरते हुए विस्तार....
लेकिन इन सबके अतिरिक्त
काँच के सरोवर की तरह
एक व्यूह-बद्ध मौन है
दर्पण के उस पार
जिसे कुछ नहीं तोड़ता
क्योंकि उस तक कुछ नहीं पहुँचता
सतह को छूकर
सब कुछ धुल जाता है
और सुनहरी किरनों के जाल में बसी हुई
नीली, स्वतः सम्पूर्ण सृष्टि घनी हो जाती है।

तलाश, तलाश अनवरत अन्तहीन तलाश
जो पेड़ों की डालों में
सूने मकानों में
खण्ड-खण्ड चट्टानों में
भूरी चिड़िया की तरह उड़ती फिरती है।
पेड़ों के तने पीली आभा से ग्रस्त हो जाते हैं
चट्टान गुब्बारे की तरह चमकने लगती है
नदी का सारा पानी दरार में समाने लगता है
और मंजूषा की तरह
मेरे साथ यह घाटी बन्द हो जाती है
मैं जानता हूँ
चिड़िया पेड़ों के चारो ओर
उड़ान की डोरियों के
बेतहाशा जाल बुन रही है।
मैं बैठा हूँ
जमीन की ओर देखता हूँ
घास की पत्तियों को
जो अभी भी स्थिर हैं
और प्रतीक्षा करता हूँ ....
किसने मुझे इस स्वनिर्मित केन्द्र में छोड़ दिया
जिसके चारों ओर खोखले समुद्र की तरह
सिर्फ आलोकहीन विस्तार है
और दूर किनारों पर
भागते हुए मद्धिम नक्षत्र-लोक।
मैने यह चुना नहीं, लेकिन मैं ही था अन्तिम

क्योंकि मेरे बाद शृंखला खत्म हो गयी
जिस पगडण्डी से मैं आया था
अब वहाँ घटाटोप वन है :
शायद वह सीमा-रेखा भी नहीं रह गयी
जिसके बाद वापस जाना असम्भव है ।
अतीत दूर होता जाता है, और साथ-साथ भविष्य भी
और मैं इस बीच के शैल पर खड़ा हुआ
केवल इस शून्य को भरने के लिए

विसर्जित होता जाता हूँ
मेरे हाथ निस्सीम में फैलकर ओझल हो गये है
और मेरी दृष्टि स्थिर हो गई है।
अथाह .... अथाह ....
सीमा शून्य की नहीं
दृष्टि की परिधि है ।

सामने, आस-पास, पीछे

एक दिन न जाने क्यों
तुम एक चढ़ी हुई प्रत्यंचा की तरह
तन गए
और तुम्हारे ऊपर से
हल्की टंकार के साथ
एक तीर छूटा
समने, अन्तरिक्ष की ओर ।
जब भी तुम आँखें उठायोगे
तुम्हें सामने वह तीर
जाता हुआ दिखाई देगा—
उसका कोई लक्ष्य नहीं है
क्योंकि जो कुछ भी उसके आगे पड़ता है
आकाश की तरह रास्ता दे देता है
वह केवल जाता रहता है
उजला, जगमगाता ।
सिर्फ एक तीर ।
इसके बाद तुम्हारी प्रत्यंचा का,
कोई उपयोग नहीं
क्योंकि तुम्हारे पास
दूसरा तीर नहीं है ।
तुम चाहो तो हल्की टंकार
अब भी सुन सकते हो
लेकिन वह तीर
तुम्हें हमेशा ज्यों का त्यों दिखाई देगा

जाता हुआ.......
सिर्फ जाता हुआ.......
मरे हुये पक्षी की तरह

वह हमेशा तुम्हारे पैरों के पास
पड़ा रहता है
और तुम्हारे बोलते ही
फिर बोलने लगता है |
तुम कभी भी
उससे छुटकारा नहीं पा सकते |
कोशिश कर देखो
जब तुम चट्टान पर खड़े हो कर
निर्जन पर्वतमालाओं को पुकारोगे
वह तुम्हारे साथ बोलेगा |
बहुत दूर चले जाने के बाद
जब तुम सिर झुका कर बैठोगे
जब तुम्हें फिर पैरों के पास
पड़ा पड़ाहुआ दिखेगा,
और तुम उसके रंगीन पंखों को
एक एक करके गिनोगे |
तुम चाहो तो
उसे हाथ में लेकर
उसके नरम शरीर को
सहला सकते हो
लेकिन उसकी गर्दन लटकी रहेगी
और पंजे सिकुड़े रहेंगे |
तुम्हें याद नहीं
तुमने कब इसका शिकार किया था
लेकिन तब से ही
यह तुम्हारा सहचर है
और तुम बार बार अकेले पड़ कर
इसे देखने आ जाते हो |
समवेत नृत्यों में
जब तुम औरों के साथ

तन्मय हो जाते हो
वह नहीं दिखता
और तब तुम सोचते हो
कि क्या अब भी वह
तुम्हारे एकान्त में बोलते ही
फिर जीवित हो जायेगा ?
तुम बार बार लौट आओगे
और उस मिट्टी को कुरेदोगे
जहाँ वह थाल भर फूल की तरह
उग आता है
ओर तुम खुद नहीं जानोगे
कि तुम क्या देखना चाहते हो
क्योंकि तुम्हें जिन्दगी और मौत के अतिरिक्त
शब्द नहीं दिये गये हैं

जिन्दगी और मौत के अतिरिक्त..........
एक काली चट्टान है
जिस पर बेतहाशा धारा
अपना सिर पटकती है
लेकिन हिला नहीं पाती
सिर्फ चट्टान रह रह कर
धुल जाती है
और उसके भीगे कलेवर से
हजार सूरज चमकते हैं
तुम उससे कतरा कर
निकल नहीं सकोगे
बार बार मुड़कर देखोगे
और कोई न कोई चकाचौंध सूरज
तुम्हें पीछा करता जान पड़ेगा।
वहाँ भी
जहाँ चीड़ के खामोश वन हैं
और सान्त्वना देने वाली हिम चोटियाँ हैं
जहाँ नदी का शोर नहीं पहुँचता
वहाँ भी तुम्हे लगेगा

कि पीछा करने वाले जानवर की तरह
कोई तुम्हारे पीछे आ रहा है।
रह रह कर
टहनियों को चरमराने की आवाज आयेगी
और लगेगा
कि लताओं में आदृश्य कोई
रुक कर साँस लेता है।
सामने ढलते सूरज की रोशनी में
निर्विघ्नता का प्रतीक तुम्हारा कुटीर
शिखर पर सँवलाया हुआ दिखेगा
लेकिन तुम चाहते हुए भी
कठिन चढ़ाई के कारण
अपनी रफ्तार तेज नहीं कर सकोगे
और किसी को पुकार नहीं सकोगे।
आँखें बन्द करने पर
तुम्हें फिर वह काली चट्टान दिखेगी
जिस पर बेतहाशा धारा
अपना सिर पटकती है।

अलविदा

तुम खुद हाथ में रेत लेकर
उसमें चमकते चाँद के जर्रे देखते रहे
तुम्हे किसी ने नहीं भरमाया
और उसमें तुमने देखी

दीवारें टटोलते हताश भीड़ें
सुरंगों के पार जलती हुई स्वर्ण लंकाएँ
गटर के छुरे पेंकते सियाह चेहरे
समुन्दर की तरह काँपती लड़कियाँ
दुर्घटनाएँ लिए जाती रेलगाड़ियाँ.....
तुम्हें यह भी ख्याल नहीं रहा
कि कितना समय गुजर गया है
जो लोग तुम्हारे साथ यहाँ तक आये थे

वे बार बार तुम्हें पुकार कर
चले गये
क्योंकि उनकी अपनी जिम्मेदारियाँ थीं
और शाम हो जाने के बाद
वे इस बदनसीब इमारत में रुकने के लिए
तैयार नहीं थे ।
रात होते ही
खिड़की के पार से
वह हसीन चेहरा झाँकेगा
जिसके बारे में तुम सुन चुके हो
तब उस परिस्थिति का मुकाबला
तुम अपने भीतर की किन ताकतों के सहारे करोगे
यह तुम्हें उसी समय मालूम होगा,
मैं इसमें तुम्हारी कोई मदद नहीं कर सकूँगा
मैं ज्यादा से ज्यादा इतना बता सकता हूँ
कि या तो यह होगा
कि सुबह आकर
मुझे तुम्हारा नाम
उन लोगों की फेहरिस्त में लिखना होगा
जिनके वापस आने की कोई उम्मीद नहीं
या फिर ....
या फिर क्या होगा, यह बताना
मेरे लिए कठिन है
क्योंकि आज तक इसके अतिरिक्त कुछ
घटित हुआ ही नहीं
सिर्फ पीढ़ी पर पीढ़ी चली आती हुई
एक अफवाह है
कि यातना भरी मृत्यु के अलावा भी
एक विकल्प है
उसकी क्या शकल है
और किस तरह वह घटित होगा
इसकी कोई साफ तस्वीर
अफवाह में शामिल नहीं है ।
यों यह मृत्यु यातना भरी है

यह भी मैं अन्दाज से कहता हूँ

क्योंकि मैंने आज तक उस क्षण को देखा नहीं
अब हसीन चेहरे
और भटके हुए मुसाफिर का साक्षात्कार होता है
हो सकता हैं
कि वास्तविक अनुभूति कुछ और हो
क्योंकि ऐसी रातों में
देर तक मैनें
अट्टहास और संगीत सुने हैं
करीब तीसरे पहर जाकर
भयानक चीख सुनाई पड़ती है :
इसलिए यह कहना
कि इसमें सब कुछ यातना ही है, कठिन है
हो सकता है इसमें सुख भी हो
या सौन्दर्य का प्रकाश ही
आँखों पर छा जाता हो
क्योंकि इतना मैंने जरूर देखा है
कि सुबह सब कुछ ज्यों का त्यों हो जाने के बाद
यह सारा वातावरण
बेहद खूबसूरत हो जाता है
जैसे दुर्घटना को पचा लेने के बाद
जंगल खूबसूरत हो जाता है।
मुझे सख्त ताज्जुब होता है
कि इस थोड़े समय के साथ के कारण
लोग तीसरे पहर
मेरा नाम लेकर क्यों पुकारते हैं
क्या आखिरी आदमी
इतना गहरा सहारा देकर विदा होता है ?
मैं तुमसे बता चुका हूँ
कि मैं चाहूँ भी
तो तुम्हारी कोई मदद नहीं कर सकता
इसलिये अगर तुम मन्जूर करो
तो सिर्फ इतना कहना चाहूँगा
कि मेरा नाम लेकर न पुकारना ।

सुनो,
बाहर बाग से
हल्की सुरीली आवाज जा रही है
जैसे कोई बाँसुरी का आरम्भ कर रहा हो
यही वह वक्त है
जब यहाँ से जाता हुआ मैं
फरिश्ते की तरह दिखाई देता हूँ
अक्सर लोगों ने मुझसे इस वक्त कहा है
कि मै लालटेन ऊँची कर दूँ
ताकि वे मेरा चेहरा अच्छी तर देख सकें
तुम चाहो तो

मैं तुम्हारे लिए भी यहीं कर सकता हूँ
मैं नहीं जानता कि मेरा चेहरा
तुम्हें किन सुनसान समुद्र तटों
या अँधेरी गुफाओं
या शान्त डरावने शिखरों की याद दिलाता है
लेकिन यह सच है
कि मेरे पास कुछ भी नहीं है
जिसे मैं तुम्हें दे जाऊँ
मेरे जाते ही
यहाँ जहाँ मैं खड़ा हूँ
तुम्हें एक खालीपन का एहसास होगा
जिसे तुम हाथ बढ़ा कर
छूने की कोशिश करोगे।
शायद इस रेत को फिर
अंजल में उठा कर देखने से काम चल जाय
बशर्ते कि तुम इस तरह रात काट सको
इससे तुम अपनी आँखों को
बाहर देखने से रोक सकोगे
लेकिन कानों का क्या करोगे
उनमें तो यह दिलकश रागिनी
और पास, और पास आती हुई गूँजेगी
फिर तुम अपने को कैसे रोकोगे ?
या शायद तन कर खड़े होने से काम चले

वह नहीं जो भविष्य के नाम पर
चुनौतियाँ देने से उपजता है
बल्कि वह जो आखिरी निर्णय के बाद सहसा
बिल्कुल अकिंचन हो जाने से
उत्पन्न होता है
तब शायद तुम्हारी आँखें
न सिर्फ शीशे के पार
बल्कि शीशे के पार दिखाती हुई छवि के भी आर पार
देखने लगें
तब तुम देखोगे कि यहाँ से वहाँ तक
अटूट अँधेरा है
जो माँद में मरते हुए जानवर की तरह
साँस लेता है।
मगर मैं यह सब
सिर्फ अनुमान के भरोसे कह रहा हूँ
क्योंकि मेरा अनुभव बहुत सीमित है
और मेरे लिए वे सारे रास्ते बन्द कर दिए गये हैं
जिनसे होकर
चमकता हुआ जोखम प्रवेश करता है
और खून की आखिरी बूँद तक को
आत्मा में बदल डालने की माँग करता है

सच तो यह है
कि इस सारे वातावरण की तरह
मैं भी सिर्फ इन्तजार कर रहा हूँ
उस विकल्प का
जिसकी अफवाह
रात की हवा की तरह
समय के एक छोर से दूसरे छोर तक
मँडराती हुई सुनाई पड़ती है।
आवाज आ रही है
सुबह शायद एक नये घटनाक्रम का आरम्भ होगा
हो सकता है तब मैं न रहूँ
शायद मेरा न रहना भी
उस घटनाक्रम की जरूरी कड़ी हो

क्योंकि उस अप्रत्याशित को
न मैं जानता हूँ, न तुम
न रेत में चमकती हुई तस्वीरें
न ये पत्थर न वनस्पतियाँ
जो इन्तजार कर रही हैं
मगर मुझे कोई गम न होगा
क्योंकि मुझे जिन शर्तों से बाँध दिया गया है
वहाँ इन्तजार और अस्तित्व दो चीजें नहीं हैं
उसके खतम होने के बाद
मेरे लिए रह ही क्या जायेगा ?
सुरीली आवाज आ रही है
और पेड़ों की पत्तियाँ जगमगा रही हैं
मेरे जाने का वक्त हो गया है
क्योंकि अब तुम भी तार की तरह काँप रहे हो
मैं नहीं जानता कि तुम्हारे भीतर
पैर के अँगूठे से लेकर गले तक
जो कुहराम बज रहा है
उसकी परिणत क्या है
मगर मैंने जो कुछ भी कहा है
उसे तुम भूल जाना
या यह कहना भी फिजूल है
क्योंकि उस चेहरे की खिड़की तक आते हो
तुम खुद ही सब कुछ भूल जाओगे
तुम्हारी आँखें पेड़ की पत्तियों की तरह जगमगाने लगेंगी ।
और तुम्हारे भीतर से उसका जन्म होगा
जो तुम्हारी ओर से
बिना तुम्हारी अनुमति के बोलता है
वही तुम्हारी रक्षा करता है
या फिर ....
आवाज आ रही है
तुम खुद हाथ में रेत लेकर

उसमें चमकते चाँदी के जर्रे देखते रहे
तुम्हें किसी ने नहीं भरमाया ....

❖

डॉ. जगदीश गुप्त

जन्म सन् 1924 ई0 में जिला हरदोई के शाहारबाद नामक कस्बे में हुआ। शिक्षा शाहाबाद, देहरादून, सीतापुर, मुरादाबाद, कानपुर आदि स्थानों में हुई। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा से प्रेरणा प्राप्त कर प्रयाग विश्वविद्यालय से 1952 में गुजराती एवं ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य के तुलनात्मक अध्ययन पर डी0 फिल0 की उपाधि प्राप्त की और इस सम्बन्ध में पश्चिमी भारत का भ्रमण किया। सन् 1950 ई0 से प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया तथा वहीं से अध्यक्ष पद से सेवानिवृत्त हुये। 'परिमल' के संस्थापक सदस्यों में प्रमुख तथा अनेक वर्षों तक संयोजक भी रहे।

डॉ. जगदीश गुप्त के काव्य में परम्परागत विकास हुआ है इसलिए उनके काव्य-शिल्प में आधुनिक दृष्टि के साथ-साथ भारतीय शास्त्रीय रुचि भी परिलक्षित होती है। ब्रजभाषा के लालित्य से प्रारम्भ करके छायावादोत्तर काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों को आत्मसात् करते हुए नयी कविता तक जो लम्बी यात्रा उन्होंने की वह असाधारण ही नहीं, विचित्र भी प्रतीत होती है। इस काव्य यात्रा में सनेही जी और माखनलाल चतुर्वेदी की वरद छाया उन्हें कानपुर में विशेषतः प्राप्त हुई। शास्त्रीय रुचि एवं आधुनिक दृष्टि के दोहरे भार के कारण उनका काव्य प्रायः दो समानान्तर स्थितियों में अभिव्यक्त हुआ है। प्रथम यथार्थवादी दृष्टि जो जीवन की विसंगतियों एवं उसकी कुरूपताओं को उद्घाटित करती है, दूसरी रोमांटिक दृष्टि जो प्रकृति एवं मानव सौन्दर्य के रागतत्व को अभिव्यक्ति करती है।

डॉ0 जगदीश गुप्त आधुनिक चित्रकला में भी निष्णात हैं बल्कि यह कहना चाहिए कि वर्तमान रेखा चित्रकारों में उनकी स्थिति अत्यधिक वैशिष्ट्यपूर्ण है। चित्रकला का विधिवत् ज्ञान आचार्य क्षितीन्द्रनाथ मजूमदार के सान्निध्य में प्राप्त किया तथा विभिन्न शैलियों में बहुसंख्यक चित्रों का अंकन कर चुके हैं। इधर रेखांकन की ओर विशेषतः प्रवृत्त हैं। चित्रकला के अतिरिक्त प्राचीन मूर्ति-मुद्रा संकलन और पर्यटन में उनकी पर्याप्त रुचि है।

नयी कविता के प्रवक्ताओं में जगदीश गुप्त काफी निष्ठा, साहस एवं सैद्धान्तिक आग्रह के लिए विख्यात हैं। महामान्य, समीक्षकों के अन्यायपूर्ण आक्षेपों का सतर्क प्रतिवाद करते हुए उन्होंने नयी कविता-आन्दोलन को जो

गति दी उसमें उन्हें स्वयं सार्थकता का अनुभव हुआ यद्यपि विरोध और आघात भी कम सहने नहीं पड़े 'अर्थ की लय' और 'सह-अनुभूति' विषयक स्थापनाओं पर काफी बहसें भी हुईं। वर्षों 'नयी कविता' के संपादन के पश्चात् अब 'कवितावृत्त' की योजना में व्यस्त।

प्रकाशित कृतियाँ—

कविताएँ— 'नाव के पाँव', 'शब्द दंश', 'हिम-विद्ध', 'युग्म' (कविताओं और चित्रों का विशिष्ट संग्रह) छन्द शती।

समीक्षा— नयी कविता :स्वरूप और समस्याएँ।

संग्रह— रीति काव्य-संग्रह, काव्य सेतु, कवितान्तर।

शोध-प्रबन्ध— गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन।

कला-ग्रन्थ— प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला, भारतीय कला के पदचिह्न।

सम्पादन— 'नयी कविता' आठ अंक (1954 से 1969 के बीच), लेखक और राज्य, (परिगोष्ठी-विवरण), परिमल स्मारिका (रजत-पर्व), उद्धव शतक।

खण्ड काव्य—शम्बूक

❖

आकांक्षा

(1) शब्द और अर्थ के बीच
आकांक्षा
शब्द को देती है अर्थ |

तुम्हारे शब्दों को क्या हो गया है ?
या तो तुम तुम्हीं नहीं रहे,
या उनका अर्थ खो गया है ।
वाण जो तुमने छोड़े
लक्ष्य तक कहाँ पहुँचे
बीच में ही उनके पंख टूट गये ।
सच होगा, यदि कहूँ
वे छोड़े ही नहीं गये
अनायस केवल छूट गये ।
शंकित मत हो धुर्नधुर ! मेरे लिए—
तुम्हारी आकांक्षा कहीं मर गयी है,
या किसी अवरोध के पंक में
बुरी तरह भर गयी है,
इतनी कि उसकी गति जानी नहीं जाती,
तुम्हीं से तुम्हारी कांक्षा पहचानी नहीं जाती ।
उतरी हुई वाणी
ढीली प्रत्यंचा है—
कब किसे कोटि-क्रम देती है,
धनुष से लिपटी हुई—
सर्पिणी का ही भ्रम देती है ।
मुझे लक्ष्य-वेध काम्य,
वाण और वाणी में
देखता हूँ क्रिया-साम्य
मैं कवि हूँ स्वाभिमानी
शब्दों में नया और सच्चा
अर्थ भरना चाहता हूँ,

खोखली ध्वनियों की
बेरहम जंजीर से बँध कर
कुत्ते की मौत
नहीं मरना चाहता हूँ।
(2) अस्तित्व : फेन की सतह पर
यूँ ही लगता है
जैसे कोई चौराहा
गुफा में बन्द हो गया हो ।
हर दिशा दरवाजे की तरह
गुफा के भीतर ही खुलती है
द्वार, कहने को है भी
– और नहीं भी ।
छूट है कि आदमी किसी भी तरफ जा सकता है
मजबूरी है कि उसे किसी-न-किसी ओर जाना ही है
'चिरैवति-चरैवति', एक भारी चरागाह
चौराहा है या चौपाया ।
एक बैल बीचोबीच बैठ कर पागुर करता है,
बार बार जबड़ों से फेन टपकाता है ।

उसके झूँकदार कान, दोनों ओर की—
शरारती मक्खियाँ उड़ा कर,
सहसा रुक जाते हैं
जैसे कभी हिले ही न हो, या कि—
हिलना भूल गये हों
आँखों के दो बिल्लौरी पत्थर
सफेद फेन-धारा में जीवित बहे जा रहे हैं,
उन्हें कोई रोकता भी नहीं !
क्या कहीं कुछ भी शेष नहीं है ?
क्या सबका सब कुछ चुक गया है ?
गुफा में चौराहा
एक चौपट की तरह बिछा है,
दरवाजे खोल कर

खिलाड़ी आने ही वाले हैं |
फेन रह-रह कर चौपड़ पर
गोटों की शक्ल में गिरता जाता है,
कोई भी नहीं आया इतनी देर से
सिर्फ मैं ही अकेले खेल रहा हूँ ।
पिटती जा रही है गोट से गोट ।
मैं—
पागलों की तरह ठठा कर हँसता हूँ,
ठहाकों की चोट से—
आप ही आप खुल जाती हैं ।
– जंग लगी साँकलें ।
गुफा में अनायास ही फेन भर उठता है,
दरवाजों की संधि से—
अनायास
मेरा अहं
उसके सर्वग्रासी प्रवाह पर, तिनके-सा
टिक कर रह जाता है।
दिशाएँ उसी पर
गिर-गिर कर बर्फ-सी जमती जा रही है ।
ऊपर, और ऊपर
उठती जा रही है फेन की सतह,
झाग का समुन्दर लहराता है
निःशब्द
तिनके के लोभ में,
पूरी गुफा को अपने भीतर डूबता हुआ
क्या कहीं कुछ हुआ ?
क्या हुआ ?
अतीत किसी भी तरह
सियार की बोली नहीं हो सकता ।
अस्तित्व अपने-आपको कभी
गुफा-बद्ध फेन के ज्वार में नहीं खो सकता ।

(4) अदेय
ढोऊँगा कहाँ तक

परम्परा व्यर्थ का बोझ है—
दे दूँ इसे किसी योग्य याचक को
ऐसा सोच
देने के लिए, दान
ज्यों ही बढ़ाया दायाँ हाथ
सहसा मुझे याचक पहचाना लगा,
रोशनी में देखा
अरे ! वह तो मेरा ही बायाँ था ।
(5) प्रश्नों की बौछार और सर
मैं सोचता हूँ कि क्या
आँख को बीज की तरह फोड़ कर
उसमें से दृश्य निकाला जा सकता है ?
हृदय को नश्तर से चीर कर
या छत्ते की तरह तोड़ कर
क्या प्रेम निचोड़ा या ढाला जा सकता है ?
क्या जिस्म को तराश कर
आदृश्य किन्तु अनुभूत
आत्मा की पर्तें
उघारी ज सकती है ?
प्रश्नों की बौछार से
अपना सर न बचाते हुए
मुझे लगता है—
सृजन की सार्थकता
टूटने में नहीं, जुड़ने में है ।
आदमी का स्वत्व
बिखरने में नहीं
ताप से पकने और मुड़ने में है ।

तब जाकर चैन मिला

सामने
जूते पर
जूता पड़ा है;

लगा-जैसे किसी ने
पंजे पर पंजा रख दिया हो ।
दुख आया जी
उफ़ ! उठूँ ?
ठीक कर दूँ ?
छिः
– होगा,
बिना पढ़े पुस्तक के
पाँच-छै पन्ने पलट गया ।

फिर सहसा पंजे पर !
अपना ही पंजा धर कर देखा
दर्द हुआ
उठा
और जूते पर से
तिरछे जूते को हठा दिया।

दया नहीं, दर्द

एक घुँघरू
नृत्य की गति से छिटक कर
कहीं गहरे पंक में फँस गया ।
मुखरता के लिए
पंकिल मौन का अनुभव विषम
था नया ।
खुले होठों से कहीं था मधुर स्वर-सामर्थ्य
पर संगीत विजड़ित, रुद्ध;
अजब अपनापा लगा मुझको
कि सारी विवसता के बीच
केवल दर्द का एहसास होता रहा
आयी नहीं मन में दया ।

प्रहरी मूर्ति

एक पत्थर को
दूसरे पत्थर से मार कर
मैंने आवाज सुननी चाही
ताकि खामोशी टूट सके ।
भूल गया
कि दोनों के बीच की जो दूरी है
वह स्वयं मैं हूँ
और इतनी आसानी से उसे—
यानी अपने को
मिटाया नहीं जा सकता
अब मैं उन दोनों पत्थरों को
अपने हाथों में लिए हूँ
और मेरे हाथ
उनके स्पर्श से
पत्थर हुए जा रहे हैं ।
एक भारी शब्द हीनता के बीच
मेरी देह
सियाह मूरत बनती जा रही है
रोदाँ के 'नरक-द्वार' में जड़े जाने के लिए
मैं अब वहीं रहूँगा
एक प्रहरी की तरह ।

कछुए की मौत

झाग से भरे होठ
रेत के ठण्डे पड़े ढूह पर
विक्षिप्त कछुए-सा महासिन्धु
माथा पटकता है बार-बार
टूट कर गिरता नहीं है फिर भी कगार |
युगों से ज्यों का त्यों टिका है
क्रूरता शिलापीठ

आहत स्वाभिमान लिए
लौट लौट जाता है पारावार |
पिछले तिक्त अनुभवों की
सारी गुह्यताओं को बन्द किए
रुद्ध का रुद्ध है अब भी द्वार |
काम के ग्रंथिमय सूत्रों से जुड़ी हुई
व्यथा भरी वही कथा
पुनर्वार, पुनर्वार |
मुक्ति मिले
अगर कहीं भीतर की आग से
अपने आप जल जाये
अतलान्तक जलाधार |
सूखे जमे पेड़ की पपड़ियाँ वे भार हीन
धरती की दरकी हुई छाती पर
चिथड़ों-सी पड़ी रहें दुर्निवार |
मरे हुए कछुए की पीठ पर,
उग आयें
नीले विष-वृक्षों की झाड़ियाँ
चमकीली, काँटेदार ।

आदिम एकान्त

मुझे फिर मेरा गहन एकान्त दो ।
जहाँ वज्राघात का भूकम्प-सा स्वर भी,
एक तिनका टूटने से अधिक—
आभासित न हो ।
जहाँ उल्कापात से संत्रस्त अम्बर भी,
एक जुगनू के टिमकने से अधिक—
त्रासित न हो ।
मुझे फिर मेरा वही एकान्त दो ।
हर जमे विश्वास की
जड़ उखड़ने के साथ

मैं भी उखड़ता हूँ ।
हर बिछड़ती आँख के संग
तरल होकर—
मैं स्वयं से बिछड़ता हूँ ।

मुझे फिर मेरा सहज एकान्त दो ।
दो वही आदिम, अचल एकान्त,
असह कोलाहल कलह को बेध कर भी
छाँह जिसकी तिक्त मन को परस जाती है ।
जहाँ भी अस्तित्व झूठा जान पड़ता है
वहीं उसकी याद आती है ।

सतह और उसके नीचे

जिसको अपनी नियति के
स्वयं निर्धारण की........
वरण की.......
स्वतन्त्रता नहीं है
वह केवल समूह है, भीड़ है
मैं उसे समाज की संज्ञा कभी दूँगा नहीं |
गिनती की शक्ति से
लादे गये निर्णय
हमारे कहलाते हैं
हम भी उन्हें
जाने अनजाने
स्वीकार कर लेते हैं,
सतह के नीचे छटपटाता रह जाता है
आहत सत्य |
गिनती से परे भी सत्य की सत्ता है |
केवल धरातल से
जीवन की माप नहीं होती है |
हाथ...........
जो तोड़ कर सतह
मिट्टी में दबे हुए सत्य को

ऊपर ले आते हैं
मेरे स्नेह-भाजन हैं, मुझे वरेण्य हैं |
सतह से नीचे जो जीवन प्रवाहित है,
वही तो हमारा है !

घायल शिला-चित्र

भल्डरिया नदी की सूनसान घाटी में
जिन आदिम चितेरों ने
पत्थर पर घायल सुअर का
चित्र बनाया
उन्हें नहीं मालूम था कि वे
अनजाने ही
आदमी की पीड़ा आँक रहे हैं |
उसकी देह में धँसा हुआ, टूटा हथियार
उसका दर्द की कराह से खुला हुआ मुँह

हजारों साल से खुला का खुला है
यातना का अंकन भी
कितनी बड़ी यातना है ।
क्यों नहीं दिया फिर किसी ने ऐसा चिन्तरन
पशु पीड़ा का ?
और क्यों हर देखने वाले को लगता है
कि यह पशु का नहीं
उसी का चित्र है ?
पीड़ा हर जीवधारी का सहज अनुभव है,
उसमें आदमी और पशु का अन्तर नहीं होता ।
ममता परिभाषाओं में बाँध कर नहीं दी जाती ।
तुम्हारे तीखे नुकीले शब्दों से घायल
अब मैं सिर्फ एक जानवर हूँ
—एकाकी शिलांकित ।

सात प्रेम कवितायें

पहचान से अलग हम

सूखा हुआ सोता,
तुम्हारे अँजलि बाँधते ही
—फूट पड़ा;
जब मैं नहीं चाहता था
तो तुमने मेरे अभेद्य—
शान्त, गहन एकान्त
को भेद कर
मुझमें प्रवेश क्यों किया ?
क्या तुम्हें नहीं लगा
कि मैं भीतर से
खंडहरों भरा सूनसान, निर्जन, बियाबान
जंगल हूँ, रेगिस्तान हूँ
तुम्हारे पाँव के नीचे पड़कर
कोई न कोई सूखा पत्ता—
जरूर चरमराया होगा,
एक एक कर
सारी अँधेरी सीढ़ियाँ उतरते हुए
तुम मेरे पास तक निडर कैसे चले आये ?
उस आदिम भय को तुमने कैसे जीता ?
क्या कोई भी साँप तुम्हारे पैरों तक नहीं आया ?
शाम की परछाइयों की तरह
तुम्हारी अँजलि, तुम्हारी तृषा
—बढ़ती ही जा रही है;
सोता ऐसा फूटा कि फिर रुकने को
—आ ही नहीं रहा है,
क्या तुम्हें विश्वास है कि वर्षाहीन प्रलय के बाद
जब नयी सृष्टि होगी

तो तुम मुझे पहचान सकोगे ?
क्या यह अजस्र बहता हुआ जल—

हमारे व्यक्तित्वों को डुबाये बिना छोड़ देगा ?
क्या तुम मेरी नज़र में
बेपहचान होने के लिए
तैयार हो चुके हो ?
तुम यह क्यों नहीं नहीं समझते
कि अपनी पहचान से अलग
हम और कुछ नहीं हैं,
और अगर हैं—
तो हमारे लिए उसका कोई अर्थ नहीं है ।

क्षति पूर्ति

यदि अब भी
तुममें कुछ ऐसा हो
जो अक्षत हो, अछूता हो,
—उच्छिष्ट न हो,
मुझे वही वही दो ।
तुम्हारा जो भी अंश अपना हो,
नितान्त निजी हो, सुरक्षित हो,
सहज संवेद्य हो, क्वांरा हो,
मुझे वही चाहिए ।
यदि नहीं है कुछ भी शेष तो—
मन पर जमे हुए कल्मष की पर्तें
एक एक कर उतार दो ।
सारे मलिन वसन दूर फेंक
भीतर के उजले रूप को उघार दो,
निर्वसन आत्मा सदा सक्षम है,
—पावन है
—मुझको वरेण्य है ।
भोगे हुए को भोगना
नरक की यातना है,
दुश्चरणी, वैतरणी
दोनों ही एक हैं ।

यही मर्यादा है मन्दिर की,
देवता पर चढ़े हुए पुष्पों को—
फिर से चढ़ाया नहीं जाता ।
सत्य की पाषाणी प्रतिमा निरावृत्त ही पूज्य हैं,
उसे, छल के सुवर्ण से मढ़ाया मढ़ाया नहीं जाता ।

प्यार : यात्रा और आँख

जिसका पहला ही अक्षर आधा हो
वह हमें पूर्णता तक कैसे ले जायेगा !

प्यार
एक दिशाहीन यात्रा है
एक यातना से दूसरी यातना तक,
न यात्रा का अन्त है
और न यातना का,
कहते हैं यह हमेशा
अंधा ही जनमता है,
पर बिना आँख का, मुझे—
कुछ भी नहीं चाहिए
पहले आँख दो
फिर प्यार
फिर आँखों का प्यार
फिर,
कुछ दूर हटकर, अपने को
देख लेने दो
एक बार

वधिक स्थितियाँ

स्थितियाँ भी वधिक होती हैं,
पंख फड़फड़ा कर
उड़ती हुई इच्छाएँ

घायल-छटपटाती धरती पर
पड़ी रह जाती हैं,
तजे रक्त से सने हुए छर्रे
या छूटे हुए तीर
देह को चीर कर
पार निकल जाते हैं,
निर्णय कभी-कभी—
एक साथ अनगिन संदर्भों में
उलझ कर
खाली हाथ
वापस चला आता है,
स्वयंप्रभा, उज्जवल
मर्यादा की अग्निरेखा
लाँघते-लाँघते
दूरदर्शी पाँव ठिठक जाता है,
द्वार तक आ कर—
किया गया स्वागत
या, दी गई विदा
क्या कहूँ इसे !
तुम्हें या अपने को
दोष दूँ किसे !
पहचानी आँख की
काली पुतलियाँ

जब पीड़ा से स्याह अधिक होती हैं।
यही बार-बार लगता है
स्थितियाँ भी वधिक होती हैं।

एक त्रयी

प्रिया
क्रिया
और त्रिया का
हर योगायोग

अलग अलग अथ—
रखता है।
हर एक त्रिया
प्रिया नहीं हो सकती
पर प्रत्येक पिया
त्रिया होती है,
पूरे चरित्तर के साथ
इसीलिए
किसी भी क्रिया को
प्रिया से
जुदा कर पाना
असम्भव है।
पीले गुलाब में जड़ी हुई
बिल्ली की आँख
—प्रिया।
बगरे बसंत में
गिरगिट की देह
—क्रिया।

शीशे के सामने शीशा

आँखों ने आँखों में देखा—
जैसे शीशे के सामने शीशा।
हम तुम—
जैसे मोगरे के फूल।
कुसुम के अन्दर कुसुम,
लहर के बाद लहर,
कूल के बाद कूल।
नीली गहराइयों में गिरती हुई आँखें,
डूबते हुए आधार।
उजली ऊँचाइयों पर फैलती हुई आँखें
सिमटते हुए स्वर।
दो दिशाएँ, एक आकाश

द्वार, द्वारों में खुलते हुए द्वार,
विस्तार—असीम-अपार—

रूप के भीतर रूप ।
आँखों ने आँखों में देखा—
जैसे शीशे के सामने शीशा ।

स्पर्श-लेख

थके माथे पर
नयी उगती किरन,
स्पर्श-सुख;
एक उँगली
गिरे जल से खेल कर
कुछ लिख गयी ।
हर लिखावट कहाँ किसने पढ़ी,
और अपनी कला से—
अनुभूत सब कुछ
कहाँ किसने लिखा ।
क्या हुआ जो
थके माथे पर
किरन का लेख
मैंने अनपढ़ा ही छोड़कर
स्पर्श-सुख ही लिया केवल;
अर्थ का संभार
सचमुच
कम नहीं पाया ।

नदी की तीन कवितायें

बहुलोचना नदी

पुल से देखा
हर नाव

जल की आँख दिखी,
बहुलोचना नदी की.....
दृष्टि की टोह में
लिखी कविता
फिर भी रही अनलिखी ।

रूप-रेखा

भोर के अँधेरे में
नदी आसमान को
शीशा दिखाती है ।
स्याह जमीन पर छपी
सफेद अक्षरों वाली
कविता-पंक्ति
स्वयं को गुनगुनाती है ।
तपी घरिया से

बार बार
पिघली हुई चाँदी (की धार)
ढलक ढलक जाती है ।
कहाँ, कैसे सहेजूं
यह तरल रूप,
किस महासिन्धु को दूँ
यह पावन रूप-रेखा ।
मैं कृतज्ञ हूँ उसका
जिसने मुझे रूपलक्षी
आँख दी
आँख की ऐसी दृष्टि दे
और दृष्टि को
यह नदी
दी ।

नदी की हँसी

पानी के ऊपर
उठी हुई रेत
होंठ-सी वर्तुल,
नीचे झलती
रेत-छाया : कंपित अधर;
दीप्त जल-रेखा
चाँदी की तार-सी खिंची ।
ईषत् हँसी फूटी
नदी के होठों से,
पूरे पाट को पार कर
आँख तक आयी
फिर गयी, फिर
मेरी खोज लेकर
या कि
एक भीतरी प्रवाह को
दूनी गति दे कर ।

प्रकृति के पार्श्व से

पुनः सृष्टि

तूली की नोक की तरह
तीखी दृष्टि विवश
फिरती रही, फिरती रही
शिखरों को
जलदों को
अपने और उनके बीच आते
देवतरुओं को
घेरती, सँवारती ।
मन ने ज्यों

विधि के बनाये

सब रूपों आकारों को
फिर से रचा
जो कुछ भी शेष बचा
साहस बटोर कर
अपने में सोये हुये स्रष्टा को
खुली बाँह छूकर जगाया
कहा—'द्रष्टा बनो' !
देखो—
यह शिखर-जलद-देवदारु से पूरित
दिशाकाश
जो भी है, सब कुछ तुम्हारी ही सृष्टि है।
पृथ्वी आकाश लो, अनिल-जल लो, तेज लो,
जैसे सहेज मिले इसको सहेज लो।

प्रकृति रमणीक है...........

'प्रकृति रमणीक है !'
जिसने इतना ही कहा—
उसने संकुल सौन्दर्य के घनीभूत भार को
आत्मा के कन्धों पर
पूरा नहीं सहा !
भीतर तक
क्षणभर भी छुपा यदि होता
सौन्दर्य की शिखाओं ने
जल जाता शब्द-शब्द
रहता बस अर्थाकुल मौन शेष
ऐसा मौन—जिसकी शिराओं में
सारा आवेग-सिन्धु
पारे-सा
इधर-उधर फिरता बह बहा !
प्रकृति ममतालु है !
दूधभरी वत्सलता से भीगी—
छाया का आँचल पसारती,

—माता है !
स्निग्ध रश्मि-राखी के बन्धन से बाँधती,
—निर्मल सहोदरा है !
बाँहों की वल्लरी से तन-तरु को
रोम-रोम कसती-सी
औरों की आँखों से बचा-बचा
दे जाती स्पर्शी के अनगूँथे फूलों की पंक्तियाँ
—प्रकृति प्रणयिनी है !
बूँद-बूँद रिसते इस जीवन को बाँधे मृत्यु-अँजलि में
भय के वनान्तर में उदासीन

शान्त देव-प्रतिमा है !
मेरे सम्मोहित विमुग्ध जलद-अन्तस् पर खिंची हुई
प्रकृति एक विद्युत की लीक है !
ठहरो कुछ, पहले अपने को उससे सुलझा लूँ
तब कहूँ—प्रकृति रमणीक है..........!

माथे पर, सुबह

उस दिन
शाम को
सुबह का चाँद
माथे पर उग आया |
भाती रहो
मद्धिम चाँदनी में
लिपटी देह ।
आकाश की तरह
इतना अन्धकार पिये,
और आखिर
कोई कैसे जिये ?
अनायास
हड्डियों में पैठ गयी
तीखी प्यास |
कहीं किसी लोहे की कील पर
पड़ी चोट,

सिहरन एक नोकदार
निकल गयी
काठ के आर-पार
ऊपर चमकता रहा
उसका सिरा |
बिल्कुल
डुबते चाँद-सा निराकार,
कितना सुथरा सिंगार

लोहार की दुकान

चाँद की निहाई पर
एक के बाद एक
लगातार घन चलते रहे;
आवाजों की तीखी चोटें दिशाओं को गुँजाती रहीं |
तारों की चिनगारियाँ
छिटक छिटक कर
सारे आसमान में फैलती रहीं |
पसीने की बूँदे—
झुटपुटे में ओस को कौन देख पाया है झरते हुए |
भोर के बलिष्ठ हाथों ने

पूरब की भट्टी से लाल-लाल दहकता गोला निकला
पर वह निकलते ही रात की लम्बी काली सँडसी से छूट गिरा
गिरते ही ढुलक चला पश्चिम की ओर
अँधेरे के लोहार ने लाचार
सुबह से ही अपने दूकान बढ़ा दी,
ताजी हवा की ठंडी साँसें भरते हुए |

प्रवहमान सतहें

बहती हैं एक साथ
कई-कई सतहें बादलों की
अलग अलग गति से
आसमान में |

देखने वाली आँख
दूरियों को मापती हैं,
दृष्टि हर सतह को
छू छू कर काँपती है |
कहीं घना, कहीं झीना
भाप की धुंधली चादर का विस्तार
बीच में उसके पार झलकते हुए
गोलक बनाते श्वेत आकार
सत्ता हथियाने में—
एक दूसरे को रेलते ठेलते ।
फिर उनकी संधियों से झाँकती—
घटाओं की काली संथाली छायाएँ
जूड़े में सजाए,
बिजली की लतर के अग्नि-पुष्प ।
आगे दृष्टि जाती नहीं
केवल यही लगता है—
होंगी कुछ और और सतहें
यों ही प्रवहमान ।
एक पवन है जो सबका संवाहक है
सबके साथ जाता है; एक मन है जो ऐसी ही गतिमयी
भीतरी तहें टटोलता है;
बादलों के मौसम में हाथ नहीं आता है ।

वत्सल आकाश

सुबह टटकी
ओस से भीगी
ताजी नहायी हुई गाय
धुली उजली पावन
कब से रंभाती ।
बछड़े-सा मेरा मन
हमकता है थनों की ओर
वत्सल आकाश से

बह बह कर
होठों तक आती है
दूध की धारें—
ऐसा पेय कभी नहीं पिया ।
ऐसा क्षण कभी नहीं जिया ।

अनदेखा दृश्य

सहसा दरवाजे से झाँक कर
सामने के दृश्य ने कहा—
मुझको देखो ।
देखो मुझको ।
यों मैंने अपने से—
देखा होगा उसको कई बार
लेकिन जब उसके कहने से देखा रुक कर
नया लगा ।
काँप रही माटी—सी
गंगा की धार पर
झुक आयीं
जल रंग में बह बह कर बदलियाँ
ऐसा रंग——
जैसे किसी बच्चे के होठों से
कॉपेइंग पेंसिल छू जाये ।
कुछ क्षण में——
जामुनी साटन पर टँकी हुई
मूँगे की माला—सा
सारा पुल
आँखों में लीक गया |

एक खुली आँख

आसमान
एक खुली हुई आँख
चाँद
श्वेत पुतली
हर उजाले पाख
मुझे टकटकी लगाकर
देखती रहती है ।
शब्द से जो कहना असम्भव है,
अर्थ-बहुल मौन में कहती है ।
लगता है
सृष्टि के पोछ
कहीं एक दृष्टि है
जो किरनों से अनायास
मेरा मन गहती है ।
एक खुली हुई आँख,
मुझे देखती ही नहीं,

मेरा दुःख भी सहती है ।

हरियाली का फ्रेम

सामने
ताजी धुली दूब की
सुआ-पंखी कोंपलों के बीच
जगह जगह
आसमान की पारदर्शी देन
भर गयी है।
बादल आये और इधर उधर
बिजली की चोट से टूटे हुए
शीशों के अनगिन टुकड़े
छितरा कर चले गये।
आकाश है कि हर टुकड़े में।
प्रतिबिम्बित होने को विवश हो।
दूब है कि हर प्रतिबिम्बि को
हरियाली का फ्रेम देती जा रही है।
और मैं हूँ कि हर फ्रेम में
अपने को जड़ा हुआ पाता हूँ।

❖